प्रकाशक की ओर से

प्रसिद्ध कवि और काव्य के मर्मज्ञ प्रोफेसर शिवमंगलसिंह 'सुमन' एम० ए०, पी-एच० डी० अपनी काव्य प्रतिमा के कारण हिन्दी ससार में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं, उनके परिचय की अब आवश्यकता नहीं।

उन्हीं की लेखनी से लिखा हुआ श्री महादेवी वर्मा के काव्य का यह विश्लेषण हिन्दी साहित्य के विद्वानों और विद्यार्थियों में आदर प्राप्त करेगा तथा उपयोगी होगा, इसमें संदेह नहीं।

यह पुस्तक कुछ वर्ष पूर्व लिखी गई थी। हम चाहते थे कि लेखक इसे एक बार दुहरा देते, परन्तु उनके व्यस्त जीवन में से वे इतना समय न निकाल सकें और हमने इसे अधिक रोक रखना उचित न समझा, अतएव यह पाठकों के सामने है।

कहीं-कहीं छापे की भूलें रह गई हैं, परन्तु वे ऐसी नहीं कि जिनके लिए शुद्धि-पत्र देने की आवश्यकता हो अतएव नहीं दिया गया।

महादेवी की काव्य साधना

विषय सूची

वर्तमान हिन्दी-काव्य की रूपरेखा

भारतेन्दु बाबू द्वारा आरोपित तथा आचार्यप्रवर महावीरप्रसादजी द्विवेदी द्वारा सिंचित लता-बेल को आज बसन्त की मादकता से पूर्ण प्रस्फुटित एवं पल्लवित देखकर हिन्दी-भाषा भाषी जनता का गर्व से मस्तक ऊंचा हो जाना स्वाभाविक ही है। आज हमारा साहित्य रीतिकाल के दलदल से निकल कर न केवल खड़ी बोली को ही सौष्ठव प्रदान करने में समर्थ हुआ है, वरन् अभिव्यंजना की नूतनता, भावाभिव्यंजन की निपुणता तथा कल्पना की स्वाभाविकता एवं सूक्ष्मता के कारण भारत के ही नहीं वरन् विश्व के अधिकांश प्रगतिशील साहित्यों की बराबरी करने का दम भरने लगा है। जिस प्रकार नदी के वेग के साथ-साथ उसका पाट भी चौड़ा हो जाता है उसी प्रकार युग की प्रगति के साथ साथ साहित्य के तट भी विस्तीर्ण होजाते हैं। कल तक हमारे साहित्य के कूल मन्द प्रवाहिनी सरिता के पाटों की तरह संकुचित थे किंतु हम देखते हैं कि कल की हमारा साहित्य-गंगा आज गंगासागर होगई है। राजनीतिक आन्दोलनों की ही भांति हमारे साहित्य में भी एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है। आज के साहित्य में अनुभूति, वेदना, यथार्थवाद की झलक, हृदय की सूक्ष्म माप तथा जीवन सम्पर्क का आनन्द और क्षोभ है। आंग्ल साहित्य के रोमांटिक काव्य की भांति छायावाद भी हमारे साहित्य में एक क्रांति के रूप में आया। आँग्ल साहित्य में क्लासिक काव्यधारा से रोमांटिक धारा में परिवर्तित होने का जो इतिहास है, उसमें बहुत कुछ छायावाद की ही भांति स्वच्छन्दता, लाक्षणिक व्यंजना तथा स्वतन्त्र भावनाओं की ओर अग्रसर होने की कहानी है। मूलभेद को छोड़कर अपने बाह्य रूप में रोमांटिक काव्य और छायावाद काव्य बहुत कुछ एक दूसरे से भिन्नता जुनता है। दोनों में प्रकृति और जीवन का सामंजस्य, स्वदेश, आध्यात्मिकता तथा स्वच्छन्दता आदि का विकास-क्रम एक सा दृष्टि-गोचर होता है। वस्तुतः आजकल के [illegible] छायावादी कहा जानेवाला

प्रगति, स्वच्छंदता, नूतन परीक्षाएं तथा उद्वेग आदि भावनाएं व्यक्त होती हैं। आज हमारा साहित्य भी इन्हीं पुराने रूढ़िगत बन्धनों को छिन्न भिन्न करता हुआ उद्दाम गति से आगे बढ़ता जारहा है और आज तो उसके छायावादी रूप ने हमें चारों ओर से छा लिया है। यह और कुछ नहीं हमारी मध्यकालीन निष्क्रियता का प्रतिक्रिया अथवा स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। रीतिकाल में कविता एक प्रकार से राजदरबारों तथा समस्या पूर्ति और नायिका भेद की ड्रेनेज (गंदे नाले) में पड़ कर सड़ने लगी थी। स्वर्गीय द्विवेदीजी को यह श्रेय है कि उन्होंने उसे वो पोंछ कर उस ओर प्रवाहित किया, जिसके तट पर आज लहलहाते उद्यान और पल्लवित लताएं फैली हुई हैं, जिसकी सरस मादकता से एक बार हमारे साहित्य ससार का कोना-कोना मधुगुंजित हो उठा। हमारे साहित्य में वैयक्तिक अनुभूतियों का अभाव तो था ही, वस्तु-वर्णन की ओर कवियों की प्रवृत्ति इतनी अधिक व्याप्त थी कि हृदय पक्ष उपेक्षित की भांति कान में फेंक दिया जाता था। इसके अतिरिक्त राजदरबारों में ही अधिकांश काव्य सीमित रहने के कारण उसमें प्राय राजा अथवा समूहनायक के सुख दुःख, भोग विलास का ही चित्रण अधिक हो रहा था। सर्व-साधारण अपना सुख-दुःख उसी वैभव की चकाचौंध में भुलाने का प्रयत्न करते थे। परिणाम स्वरूप साहित्य का सम्पर्क जनता से न रह सका और धीरे-धीरे काव्य हमारे जीवन से परे की वस्तु समझा जाने लगा था। भक्त शिरोमणि सूरदास और तुलसीदास की भक्ति भावना को भी इन शृंगारी कवियों ने दूषित करने से नहीं छोड़ा। हमारे उपास्य प्रतीक राधा और कृष्ण भोगविलासी राजा और रानियों के प्रतीक बन रहे थे। उस आंख के अंधे सूर ने बिना देखे ही कृष्ण का वह स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित किया था, जिसमें एक ओर तो वे गोपियों के साथ रासक्रीड़ा करते, दधि माखन लूट कर खाने वाले तथा वृन्दावन की कुंजगलियों में छिप छिप कर आंख मिचौनी खेलने वाले थे, वहां दूसरी ओर उनके उस स्वरूप का भी चित्रण है, जिसने कंस के अत्याचारों का अन्त किया और जब आवश्यकता पड़ी तो यशोदा माता के वात्सल्य स्नेह, बालसखाओं के सहचर्य तथा प्यारी प्यारी ...

राधा के प्यार की भी अवहेलना कर कर्त्तव्यपथ ग्रहण किया तथा साम्राज्यों के सन्धिविग्रह की व्यवस्था की। आगे आनेवाले कवियों ने तो कृष्ण के उस लोकरक्षण और लोकमंगलकारी स्वरूप को बिल्कुल ही छोड़ दिया और उन्हें राधारानी के गुलाम के रूप में चित्रित किया। दशा यहां तक बिगड़ी कि कवियों के आश्रयदाता राजा और रानियों की प्रेम कहानियां कृष्ण और राधा के सिर थोपी जाने लगा और गोपियों के निश्छल, महान आत्मसमर्पण का स्थान एक छिछोरे बाजारू प्रेम ने ले लिया। कृष्ण के विरह में राधा का जन्म व्यतीत कर देना तो दूर, एक रात्रि की विरह ज्वाला से पासपड़ोस में आग लगने लगी और परदेश जाने पर च्युत कृष्ण को घर के आंगन में ही सुबह से शाम होने लगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि मध्ययुग में हमारे साहित्य ने वह वीभत्स रूप धारण किया, जिसके कारण हमारे साहित्य का ही नहीं, जीवन का भी काफी ह्रास हुआ। नखशिख वर्णन और नग्न शृंगार की विभीषिका ने चारों ओर से उसे घने कुहरे की भांति आच्छन्न कर लिया। रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियां संक्षेप में इस प्रकार लक्षित की जा सकती हैं—(१) काव्य में श्रृंगारिकता और प्रवाहहीनता, (२) काव्यक्षेत्र में रस और भाव वैचित्र्य की कमी, (३) प्रकृति चित्रण की ओर से उदासीनता, (४) दार्शनिक धरातल से अभाव और (५) कला बंधनों की बहुलता।

इन कवियों की ओर ध्यान देने वाले, हमारे हिन्दी साहित्य में इन्दु के ही समान उदय होनेवाले भारतेन्दुजी ही सर्व-प्रथम थे। उन्होंने एक दृष्टि में देख लिया कि हमारा साहित्य जन सम्पर्क से दूर होता जारहा है। फलस्वरूप हम उनकी जागरण वाणी में राष्ट्रीयता की सबसे ऊंची पुकार सुनते हैं। उन्हीं की प्रेरणा से प्रेमघन जी, श्रीधरजी पाठक आदि ने इस स्वर को और भी ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया। बाद में तो द्विवेदी काल के प्रमुख कवि बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त ने अच्छी तरह माज कर उसके परम आकर्षक स्वरूप को निखार दिया, जिसमें नवजागृति के चिन्ह स्पष्ट दृष्टिगोचर होने

लगे। फिर भी मानव हृदय में अन्य प्रवृत्तियों के चित्रण की ओर उनका ध्यान कम हो गया। इसी बीच अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में आने तथा अपनी बहन बंगला के प्रभाव के कारण राजनीतिक परिवर्तनों के साथ साहित्य में भी परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गई। आज छायावाद कहा जाने वाला हमारे साहित्य का स्वरूप हमारी तत्कालीन सामाजिक प्रवृत्तियों के विद्रोह रूप में ही आया है। यह प्रवृत्ति तो आज सारा समाज गत युग के रूढ़िगत बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह का भाव लिए ही आगे बढ़ रहा है। उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, धार्मिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातन्त्र्य का विद्रोह और काव्य बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द रचना का विद्रोह। इस प्रकार स्वच्छंदता की लहर, भावावेग, अन्तश्चेतना, कल्पना और विद्रोह इन सभी तत्त्वों ने मिल कर द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध भी एक आन्दोलन खड़ा किया, जिसको विद्वानों ने छायावाद का नाम दिया। छायावाद काल की प्रमुख प्रतिनिधि सुश्री महादेवी वर्मा ने साहित्य के इस परिवर्तन को बड़े ही आकर्षक रूप से हमारे रखा है। उनके अनुसार 'वर्तमान आकाश से घिरा हुई मन्वन्तर रहकर चतुर होकर भूतकाल का ही पालक है, जिसके जन्म का रहस्य भूतकाल में ही ढूंढा जा सकता है। हमारे छायावाद के जन्म का रहस्य भी ऐसा ही है। मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वच्छन्द घूमते घूमते थक कर वह अपने लिए सहस्र बन्धनों का आविष्कार कर डालता है और फिर बन्धनों से ऊब कर उनको तोड़ने में अपनी सारी शक्ति लगा देता है।

'छायावाद के जन्म का मूलकारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुंच चुके थे और सृष्टि के बाह्याचार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छंद छंद में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आजभी उपयुक्त ही लगता है।'

महादेवीजी के यह कुछ शब्द बहुत ही स्पष्ट रूप में हमारे साहित्य की नवीन प्रगति का परिचय देने में समर्थ हैं वस्तुत: मनुष्य के मानसिक विकास के ऐतिहासिक अध्ययन से हम इसी निर्णय पर पहुंचते हैं,कि किसी समय की, किसी भी समाज की मानसिक प्रवृत्ति, गत प्रवृत्तियों की नींव पर वर्त्तमान, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों द्वारा बनाया हुआ वह वायु मण्डल है, जिसको बदलना किसी भी व्यक्ति के लिए संभव नहीं जब तक कि कुछ व्यक्ति या समाज उन परिस्थितियों को ही न बदल दें। परिस्थितियों को बदलना तब तक सम्भव नहीं जब तक कि कुछ व्यक्ति या समाज उन परिस्थितियों से बिल्कुल असंतुष्ट न हो जाएँ। मनुष्य के सामाजिक विकास के इतिहास से यह साफ विदित हो जाता है, कि वह स्वभाव से ही पूर्णता को अपना ध्येय मानता है और जब तक उस पूर्णता को प्राप्त नहीं कर लेता, कभी सतुष्ट नहीं होता। यही कारण है कि बड़े चाव और आशा के बनाए हुए सामाजिक नियमों को जब वह अपने ध्येय से कम पाता है तो स्वयं उसको तोड़ डालता है और उसकी नींव पर अपने अनुभवों की सहायता द्वारा फिर से नए नियमों को गढ़ता है। इसीलिए मनुष्य के सामाजिक विकास के इतिहास में हम समय-समय पर बड़ी बड़ी निर्णयकारी क्रान्तियों का सामना करते हैं। आखिर यह साहित्य भी जीवन का ही तो प्रतिनिधि है। यह युग युग से जो हमने लिखा और गाया है, वह सब क्या है? यह सब हमारे सुख दुख, आशा निराशा, सफलता असफलता तथा बहिर्प्रकृति में होती हुई उथल पुथल का अन्तःकरण में पड़ी हुई छाया का प्रतिबिंब मात्र है। गोस्वामीजी के रामचरित मानस में उनके युग का जितना सच्चा और सुबोध इतिहास हम पाते हैं,उतना सत्य चित्रण आज तक किसी इतिहास की लेखनी से प्रतिपादित नहीं हुआ होगा। तो आज हमारे साहित्य में चारों ओर से जो बाढ़ सी आगई है कदाचित् यह भी इसी बात का आभास दे रहा है कि हम भी समय के चक्र में तेजी से पदार्पण कर रहे हैं, पीछे पड़े रहना अब हमें स्वीकार नहीं।

भारतेन्दुजी की प्रवृत्तियां—यहां तक तो हमने साहित्य में होने

वाले परिवर्तनों के आंतरिक कारणों की ओर संकेत किया, अब संक्षेप में भारतेन्दु काल से अब तक की खड़ी बोली की प्रवृत्तियों का कुछ परिचय भी कर लेना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावाद काव्य ने केवल नूतन विषयों का ही समावेश नहीं किया, वरन अपने लाक्षणिक प्रयोगों तथा भाषा की माज से व्यंजना प्रणाली में भी आकाश पाताल का अन्तर कर दिया। अब खड़ी बोली में वह रुक्षता नहीं, जिसके कारण हमारा 'खड़ी बोली' को छोड़ने का लालच वाद विवादों का रूप धारण करता चला जा रहा था। हम पहले ही बतला चुके हैं कि सर्व प्रथम भारतेन्दुजी का ही ध्यान हमारे काव्य की शिथिलता और विलासप्रियता की ओर गया था और उन्होंने इसे जीवन के सम्पर्क में लाने तथा भिन्न-भिन्न नए विषयों की ओर अग्रसर करने का भरसक प्रयत्न किया था। उस परिस्थिति के संशोधन के लिए भारतेन्दु ने जो मार्ग ग्रहण किया उसमें क्रांति का वेग और अस्तव्यस्तता नहीं है, नवनिर्माण का आग्रह नहीं है, एक धीर गम्भीर प्रतिभा का संकेत के लिए उठा हाथ ही मार्ग प्रदर्शन करता दिखाई देता है। देशभक्त और सुधारक होने के अतिरिक्त वे रससिद्ध कवि भी थे। उनका काव्य प्रवाह दो धाराओं में प्रवाहित हुआ (१) एक-ओर तो व्रजभाषा के रससिद्ध कवियों की भांति उन्होंने शृंगारिक रचनाएं की, किन्तु शृंगारिक कवियों की अश्लील वाणी के स्थान पर अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा सात्विक अनुभूतियों की प्रतिष्ठा करते हुए और (२) दूसरी ओर सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से विक्षुब्ध एक समाज सुधारक के रूप में, अथवा नवयुग के आव्हान स्वरूप एक सच्चे देश प्रेमी के रूप में। आज जो हम चारों ओर हिन्दी राष्ट्र भाषा की आवाज सुनते हैं इसका पहला स्वर फूँकने वाले भारतेन्दुजी ही थे।

> निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
> बिन निज भाषा ज्ञानके, मिटै न हिय को शूल॥

भारतेन्दु काल के पश्चात् काव्य की परिस्थिति—भारतेन्दु काल के भीतर नए नए विषयों का समावेश तो काव्य में हुआ पर काव्य की भाषा और उसकी अभिव्यंजना की शैली परंपरागत ही

'सरस्वती' के संपादक हुए। खड़ी बोली के उत्कर्ष की ओर उन्होंने विशेष रूप से ध्यान दिया। उनकी सुक्ष्म चीनी के ही कारण उस समय के लेखकों को भाषा की शुद्धता और गठन की ओर ध्यान देने को बाध्य होना पड़ा। परन्तु पहले पहल द्विवेदी जी ने भी व्रजभाषा में ही कविता की थी। उन्होंने हिंदी छंदों के स्थान पर संस्कृत के वृत्तों का ही प्रयोग किया। द्विवेदीजी पर मराठी भाषा का बहुत कुछ संस्कार था, इसी लिए अपनी खड़ी बोली की रचनाओं में संस्कृत वृत्तों का ही अधिक समावेश किया, यही उनकी नवीनता थी। यद्यपि कविवर केशव ने तो अपनी रामचंद्रिका में किसी प्रकार के वृत्त नहीं छोड़े हैं।

द्विवेदीजी के प्रभाव से संस्कृत वृत्तों में खड़ी बोली के पद्य लिखने का चलन बढ़ा, जिससे संस्कृतज्ञ पंडित लोग भी जो भाषा से दूर रहा करते थे, हिंदी कविता की ओर प्रवृत्त हुए। पं० रामचरितजी उपाध्याय का नाम प्रधान रूप से इसी संस्कृतज्ञ पंडितों की श्रेणी में ही लिया जा सकता है। हिन्दी के छंदों में रोला, कवित्त, सवैया, गीतिका इत्यादि खड़ी बोली के पद्य तब तक नहीं चले थे। मैथिलीशरणजी गुप्त को ही इसका पूर्ण श्रेय है कि उन्होंने खड़ी बोली के लिए छंदों का अधिक विस्तृत क्षेत्र खोला। हिन्दी और संस्कृत दोनों के छंदों में उनकी कविताएँ पाई जाती हैं।

मैथिलीशरणजी के काव्य- विकास के तीन काल

पहला काल—द्विवेदी काल के प्रारम्भ से लेकर छायावाद काल तक कविवर मैथिलीशरण जी की साहित्यिक प्रगति को हम तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं। हिन्दी संसार में वे ही एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने समय का साथ कभी भी नहीं छोड़ा और अपने को सदैव उसके अनुकूल बनाए रखने का प्रयत्न किया है। यह उनका सबसे बड़ा गुण है। उनका पहला काल जब प्रारंभ होता है उस समय कविता यातो किसी कथा या आख्यानको लेकर होती थी, अथवा रसों के फुटकर पद्यों के रूप में। इस समय अंग्रेजी में

पोप और ड्राइडन के निबंधों की बड़ी धूम मची हुई थी, औ साहित्य के इस प्रवाह का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़ना अनिवार्य थ अतः खड़ी बोली का कविताओं के लिये भी भिन्न-भिन्न विषयों के खुल गए। द्विवेदीजी के प्रभाव से खड़ी बोली में भी भिन्न भिन्न विषयों अपनाया गया। इस प्रकार धीरे धीरे भाषा में परिवर्तन होना प्रारंभ होग परन्तु अभिव्यंजना प्रणाली वही बनी रहा। उस समय तो खड़ी बोली संस्कृत या हिन्दी के छंदों में ढलना ही बड़ी बात समझी जाती थी। मैथिल शरणजी की रचनाओं में खड़ी बोली उत्तरोत्तर बहुत मँजे हुए रूप में सा आने लगी। हिन्दी छंदों के साँचों में पूर्ण सफलता के साथ खड़ी बोली ढालने वाले गुप्तजी ही कहे जा सकते हैं। गुप्तजी के समान ही लोचनप्रसा पांडेय, पं० गिरधर शर्मा भालावाड आदि और कई कवि अपनी रचना बराबर सरस्वती में प्रकाशित करवाते रहे, पर ये कविताएँ अधिकांश इ वृत्तात्मक ही होती थीं। जिन विषयों पर कविता लिखी जाती थी उनक काव्य का स्वरूप जैसा मिलना चाहिए नहीं मिलता था, वस्तुकल्पना क दृष्टि से और अभिव्यंजना की दृष्टि से भी। उदाहरणार्थ भारतभारती में आए हुए धर्म और नाज के ही भाव का वर्णन पढ़िए। फिर भी भाषा में एक प्रकार का सौष्ठव और शक्ति अवश्य आ गयी थी। द्विवेदीजी ने स्वयं लिखा था कि भारतभारती ने हिन्दी काव्य साहित्य में युगान्तर स्थापित कर दिया, परन्तु सच पूछिए तो भारतभारती ने युग की चरम सीमा कर दी। यहीं से एक प्रकार से इतिवृत्तात्मक कविताओं की समाप्ति होगई और आगे से युगान्तर कहा जाने वाला सच्चा साहित्य आ उपस्थित हुआ। सम्पूर्ण भारतभारती गीतिका छंद में ही लिखा गयी है। मैथिलीशरणजी गुप्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने भाषा को पूर्ण परिष्कृत किया, उन्हें हम द्विवेदी काल का सच्चा प्रतिनिधि और उसके आशापूर्ण भविष्य का सफल साधक मान सकते हैं।

द्वितीय काल—इस समय तक इस बात की बड़ी शिकायत हुआ करती थी कि खड़ी बोली में कविताएँ तो होती हैं पर रस और माधुर्य नहीं होता

हैं। उर्दू और ब्रज भाषा वाला मजा उसमें नहीं आ पाता। खड़ी बोली के इस प्रकार रूखी होने के कई कारण थे। सबसे पहली बात जिसके कारण वह एक स्थान पर अपने पैर नहीं जमा पा रही थी, उखड़ी उखड़ी सी लगती थी, काव्य के अनुरूप पदावली (poetic diction) का अभाव था। दूसरी बात थी वस्तु-रचना की कमी और तीसरी तथा सबसे महत्वपूर्ण कारण था अभिव्यंजना के अनूठेपन की कमी। इन्हीं सब कठिनाइयों के कारण खड़ी बोली में ढालने के लिए भाषा को बहुत मांजने की आवश्यकता थी। इसी अवसर पर गुप्तजी ने बंगला सीख कर उसकी कविताओं का अध्ययन किया। बंग भाषा अपनी कोमल कांत पदावली के लिए प्रसिद्ध है, उसकी इस सुकुमारता तथा प्रांजलता के कारण गुप्तजी की पदावली बहुत कुछ परिष्कृत होगई। इसीलिए इस समय के उपरांत उनकी रचनाओं में कर्कशता और रूखापन दिन-दिन कम ही होता गया है। यद्यपि वह, बिल्कुल दूर नहीं हो सका है और हमें अब भी यथा, सर्वथा, अहो, तब, नक, वर्क, आदि के काफी रूप देखने को मिल जाते हैं, फिर भी उनकी पहली और इस काल के उपरांत आने वाली भाषा में बड़ा अन्तर हो गया। कह सकते हैं कि झरने में पड़े हुए चिकने पत्थरों की भांति वह भी अपने कुरूप आवरण को फेंक कर अधिक स्निग्ध और आकर्षक होगई।

तीसरा काल—गुप्तजी के काव्य पथ का तीसरा काल उस समय आता है, जब बंगाल में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव से नये ढङ्ग की रहस्यात्मक कविताओं की ओर भी लोगों का ध्यान क्रमशः जाने लगा था। यों तो हिन्दी कवियों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आविर्भाव से पहले भी बंग भाषा की नूतन अभिव्यंजना प्रणाली वाली नए ढंग की कविताओं का अनुशीलन करना प्रारम्भ कर दिया था, जैसे 'मेघनाद वध' आदि। इस प्रकार उस अभिव्यंजना की नूतन प्रणाली का प्रभाव भी धीरे धीरे उनकी कविताओं में आ रहा था। उस समय नवीनचन्द्र और माइकेल मधुसूदन का ही चारों ओर बोलबाला था। रवीन्द्र बाबू के पीछे कविता का जो नया स्वरूप प्राप्त हुआ वह छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस वर्ग की कविताओं में

कल्पना की प्रचुरता, भावों की तीव्रता और अभिव्यंजना का अनूठापन तीनों बातें विशेष रूप में दिखाई पड़ीं। इसी कारण खड़ी बोली के इतने स्वागत से कहे हुए लोगों ने बड़ी उत्कण्ठा से उसका स्वागत किया। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य में छायावादी कहे जाने वाले साहित्य का धीरे धीरे समावेश हुआ। इस धारा की प्रमुख विशेषता यह है कि प्रगीत मुक्तकों की ओर लोगों की अधिक प्रवृत्ति होगई, यहाँ तक कि हमारे अधिकांश छायावादी कवि प्रधान रूप से गीत कवि ही बनकर रह गए।

कवि 'प्रसाद' का आविर्भाव

इसी समय काशी में भारतेन्दु जी की ही भाँति एक दूसरी सर्वतोमुखी (versatile) प्रतिभा का विकास हो रहा था। इस प्रतिभा का व्यक्त स्वरूप था जयशंकर प्रसाद। 'कवि प्रसाद' भारतेन्दु के समन्वयवाद और वर्तमान के बीच की ग्रन्थि हैं। न तो उनमें प्राचीनता और रूढ़िपालन का कोई आग्रह ही लक्षित होता है और न परंपरा के मृत चिन्हों को विद्रोह और क्रांति में बहा देने का, उनका काव्य एक शांत, स्निग्ध धारा है। रूढ़ि के पर्वतों को लाँघती हुई हरे भरे रमणीय मैदान में वह अपनी ही प्रशान्तता में लीन चली आई है, उसका एक निश्चित पथ है, जिसमें उद्वेग और क्षोभ नहीं है, एक प्रशान्त गंभीरता सर्वत्र व्याप्त है।

'भारतेन्दु' के समन्वयवाद और 'प्रसाद' के समन्वयवाद में यही अन्तर है कि भारतेन्दु में रूढ़िप्रियता भी थी, नवीनता भी। इसीलिए उनके काव्य में रीति के प्रेम की रसमग्नता तथा प्रचारक का रूप एकत्र होकर दोनों का स्वरूप देखने को मिल जाता है। 'प्रसाद' के काव्य में रूढ़िपालन और विद्रोह दोनों से एक विचित्र उदासीनता मिलती है। उनकी कृतियों में एक शब्द भी ऐसा न मिलेगा, जिससे यह प्रतीत हो कि वे प्राचीनता के बंधनों को तोड़ने के लिये व्याकुल हैं, साथ ही नवीनता के वर्तमान स्वरूप में भी कोई अंश ऐसा न मिलेगा जिसकी ओर 'प्रसाद' ने मार्गप्रदर्शन न किया हो।

आज कल जिस छायावाद का चारों ओर बोल बाला है, इसके प्रधान उद्भावकों में 'प्रसाद' जी का ही नाम लिया जाता है। उन्हीं के साथ साथ पंत, निराला और महादेवी की त्रिमूर्ति के भी हमें दर्शन होते हैं। यह है संक्षेप रूप में भारतेन्दु काल से छायावाद काल तक आने का इतिहास। आगे हम 'छायावाद' के मूल रूप के विचार करने का भी कुछ प्रयत्न करेंगे।

—(०)—

किसी रंगमहल, स्वप्न, मूर्छा अथवा हाल आदि की दशा की आयोजना नहीं करता। वह ईश्वर के प्रति अपना प्रेम उसी प्रकार व्यक्त करता है जिस प्रकार हम अपने नित्य के जीवन में अपने सगे सम्बन्धियों के प्रति उसे व्यक्त करते हैं। वह कभी किसी ऐसी सिद्धि का दावा नहीं करता; जिसे कोई बिरला ही समझ सकता हो। रहस्यवादियों के अनुसार ईश्वर समागम कही जानेवाली दशा, हमारे यहाँ के योगियों की तुरीयावस्था कही जानेवाली दशा ही है। यह एक प्रकार से चित्त विक्षेप की दशा है। वेदांत में रहस्यवाद से मिलते-जुलते कुछ वाद अवश्य पाये जाते हैं। उपनिषदों में भी इसकी झलक बहुत कुछ मिलती है। यह उपनिषदों का परा विद्या का विषय माना जाता है, जिसके लिए कहा गया है 'तदक्षर मधिगम्यते' जिससे अक्षर (नाश न होनेवाले का) ज्ञान हो। उपनिषदों में भी ईश्वर और जीव के मिलन का शृंगारिक भाषा में वर्णन किया गया है—'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् तद्वा अस्य एतदाप्त कामं आत्मकाम अकाम रूपम्' अर्थात् जिस तरह से कोई पुरुष अपनी प्रिया स्त्री से परिरम्भण करने में न बाहर का कुछ जानता है और न भीतर का उसी प्रकार जब जीव परमात्मा से मिलता है वह तब न भीतर का जानता है और न बाहर का। उसकी आत्मा की कामना पूरी हो जाती है। वह आप्त काम हो जाता है, उसकी कोई कामना नहीं रहती है।" इस प्रकार धर्म के अन्तर्गत उपनिषदों आदि में रहस्यवाद के चिह्न मिलने पर भी काव्य में कहीं उसका प्रयोग नहीं किया गया था। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक कहीं भी रहस्यवाद देखने को नहीं मिलता। हाँ, मुसलमानों के आने के बाद सूफी फकीरों के प्रभाव से निर्गुणवादी कवियों में, विशेषकर कबीर के समय से हमें हिन्दी काव्य में भी इसका समावेश मिलता है। इस रहस्यवाद के रहस्यपूर्ण अवतरण का बड़ा रोचक इतिहास है। हम पहले बतला चुके हैं कि रहस्यवाद का यह स्वरूप शुद्ध भारतीय नहीं था।

"हमारे यहाँ काव्य का लक्ष्य है जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित

घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन कर सके।" कारण यह गोचर रूप उसी ब्रह्म का ही विराट स्वरूप है। हमारे यहाँ ईश्वर ज्ञात और अज्ञात दोनों रूपों में माना गया है उसके ज्ञात स्वरूप को तो भक्त लोग अपनी उपासना का विषय बना देते हैं और अज्ञातस्वरूप को परमार्थदर्शी दार्शनिकों के चिन्तन के लिए छोड़ देते हैं इस विराट विश्व को ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप मानने के कारण हमें जहां रञ्जन और रञ्जन की कला का प्रसार दिखलाई पड़ा, वहां हमने ईश्वर के सका स्वरूप का आरोप कर लिया। इस प्रकार बाह्य स्वरूप की आराधना भक्ति के अन्तर्गत तथा अन्तःकरण में उसे खोजने की साधना योग के अन्तर्गत आ गई। ऐसी स्थिति में हमारे यहां धर्म को रहस्यमय बना देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

अब तनिक देखिए पश्चिम में इस रहस्य भावना का क्यों और कैसे समावेश हुआ? हमारे यहां तो धर्म और उपासना के साथ-साथ ज्ञान भी धर्म का एक अंग मान लिया गया था परन्तु सभी मजहबों में तो बुद्धि द्वारा धार्मिक विषयों का चिन्तन करना जायज ही नहीं था। वहां तो पैगम्बर के कलाम के अतिरिक्त और किसी सिद्धांत का प्रतिपादन कुफ्र समझा जाता था। इस बन्धन के कारण विचारकों को ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी निर्धारित सिद्धांतों को लेने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इधर तो वे यूनानी तत्व चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को भी ग्रहण करने को उत्सुक थे और उधर यदि वे पैगम्बरी कलाम के अलावा कुछ कहने का साहस करते तो काफिर समझे जाने का भय लगा था। बेचारे बड़ी परेशानी में थे। अन्ततः एक रास्ता निकल ही आया। उन्हें आर्य जातियों की स्वाभाविक बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान का स्वरूप दूसरे रूप से प्राप्त होने लगा। यह ज्ञान उनके पैगम्बरों, पहुंचे हुए रहस्यदर्शी संतों या सिद्धों के हाल, मूर्छा अथवा प्रेमोन्माद की दशा में दिव्य आभास के रूप में प्राप्त हो जाया करता था। इस प्रकार छठी शताब्दी से लेकर बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी तक सभी मतावलम्बियों ने यूनानी दार्शनिकों के निरूपित सिद्धांतों को आभास द्वारा ही प्राप्त कर लिया।

'इसी को वे ईश्वर समागम की दशा कहा करते थे।

अब प्रश्न यह उठा कि यदि ये सिद्धांत ज्यों के त्यों व्यक्त कर दिए जाएँगे तब तो पोल खुल जायगी, क्योंकि इनमें कोई नई बात अथवा किसी नए सिद्धांत का तो प्रतिपादन था नहीं, अतएव उन्होंने नाना प्रकार की अन्योक्तियों तथा अपर्यवसित रूपकों में लपेटकर विचित्र शब्द जाल में अपने समागम में प्राप्त ज्ञान को कहना प्रारम्भ किया। कबीरदासजी अटपटी बाणीमें भी इसी रहस्यवादी व्यंजना की अच्छी बानगी मिलती है। ईसवी सन ६०४ में एक सन्त ग्रेगरी नाम के महात्मा हो गए हैं, जिन्होंने इस समागम की दशा का इस प्रकार वर्णन किया है—"साधक ईश्वर का ठीक वैसा ही नहीं देखता जैसा कि वह परमार्थतः है बल्कि उसका सोपाधि रूप देखता है। हमारे भीतर कल्मष का जो अन्धकार रहता है वह उस शुद्ध ज्योति को ठीक ठीक हम तक पहुंचने नहीं देता। हम उसे साफ साफ नहीं देख सकते वैसे ही देख सकते हैं जैसे बहुत दूर की वस्तु कुछ धुँधली सी दिखाई पड़ती है।" उनके पश्चात बारहवीं शताब्दी में सत बरनार्ड नाम के एक और बड़े महात्मा होगए हैं, जिन्होंने यह बताया कि रहस्यदर्शी को हाल या आवेश की दशा में आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि किस ढग से होती है। उन्होंने कहा कि 'जब साधक के हृदय देश में ईश्वर की भेजी हुई ज्योति [illegible] की तरह क्षण मात्र के लिए आजाती है, तब या तो उस परम तेज की चकाचौंध [illegible] करने के लिए अथवा उसके द्वारा प्रकाशित ज्ञान को दूसरों तक कुछ पहुंचाने के योग्य बनाने के लिए, उस प्रेषित ज्ञान या तथ्य को व्यंजित करने के उपयुक्त [illegible] जगत् का कुछ अनूठा रूप विधान सामने आ जाता है। छलावे की तरह भाषित हुए उस रूपक को छायादृश्य (Phantasmata) कहते हैं।' १ इसी छाया दृश्य वाले सिद्धान्त को ही सभी रहस्यवादी सम्प्रदायों ने स्वीकार किया। इस्लाम धर्म में भी इसी प्रकार रहस्यवाद

---

१. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल—अभिभाषण।

पूरा पूरा अनुसरण किया। रहस्यवादी कवि ब्लेक ने भी ईश्वर के साक्षात्कार का वर्णन इसी व्यंजना शैली में किया। धीरे-धीरे इसका प्रचार समस्त यूरोप में होगया। अंग्रेजी शासन के अधीन होने के कारण भारतवर्ष के साहित्य का भी इससे अछूता रहना असम्भव ही था और जब कि बंगाल प्रत्येक बातों में अंग्रेजों का नकल करने के लिए तत्पर रहता था। इसीलिए जब इस 'छायावाद' वाली भावना का स्वरूप महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के ब्रह्मो समाज के भजनों में पहले पहल दिखलाई पड़ा तब उसे छायाभास से आविर्भूत होने के कारण 'छायावाद' नाम दिया गया। हिन्दी में भी बंगला साहित्य के प्रभाव से 'छायावाद' के इस स्वरूप की खूब धूम मचा। इस प्रकार छायावाद के दो रूप हम देखने को मिले एक तो उसका वस्तु से सम्बन्धित और दूसरा अभिव्यंजना शैली से प्रभावित। आजकल अधिकतर छायावादी कही जाने वाली कविताएँ इस व्यंजना प्रणाली के ही अंतर्गत कही जा सकती हैं।

इस तरह छायावाद और रहस्यवाद में मूलत तो कोई विशेष अंतर नहीं, हां वस्तु और शैली का भेद अवश्य प्रत्यक्ष है। सुप्रसिद्ध आलोचक गुलाबरायजी छायावाद और रहस्यवाद की विवेचना करते हुए कहते हैं कि ईश्वर अगम अगोचर है, वेद भी नेति नेति कह कर उसकी परिभाषा करते हैं—तथापि उसका वर्णन किसी न किसी भांति सांकेतिक भाषा में किया ही जाता है। यह विषय रहस्यमय है इसलिये रहस्यवाद कहलाता है और इसके वर्णन में जो अस्पष्टता और अपूर्णता रहती है उसके कारण यह छायावाद कहलाता है। छाया में वास्तविकता का संकेत मात्र रहता है किंतु यह संकेत मिथ्या नहीं होता, क्योंकि छाया वास्तविकता की ही होती है। दूसरी बात यह है कि छाया की सीमाएं भी अस्पष्ट होती हैं और उसमें आलोक और अंधकार का सम्मिश्रण रहता है। दोनों का विषय एक ही है यदि कुछ भेद है तो पहुंच और वर्णन शैली का। छायावादी पद्धति से अभि-प्राय उस पद्धति का है जो कठिन सीमाओं को सत्य और सौन्दर्य का बाधक समझती है। अनन्त को सान्त बनाना उसकी हत्या करना है। अनन्तता केवल

ईश्वर में ही नहीं है वरन् अणोरणीयान रजकण में भी है, क्यों कि वह उस विश्व सत्ता का अंश है—

विश्व में वह कौन सीमा हीन है
हो न जिसका खोज सीमा में मिला।

यह तो हुआ छायावाद का विस्तृत रूप किन्तु वर्तमान हिन्दी काव्य धारा को प्रकट करने के लिये जिस छायावाद संज्ञा का प्रयोग होता है वह रहस्यवाद या छायावाद के उपरोक्त मूल अर्थ से भिन्न है। रहस्यवाद का आधार दर्शनशास्त्र है और छायावाद का काव्य। आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल के अनुसार 'रहस्यवाद सात्विक अनुभूति है, छायावाद रचना प्रणाली है।' जिस प्रकार रोमेन्टिसिज्म का शब्दार्थ वैचित्र्यवाद होता है किन्तु रोमांटिक काव्य के लिये विचित्र होना आवश्यक नहीं उसी प्रकार छायावाद का शब्दार्थ चाहे रहस्यवाद हो परन्तु हमें छायावाद के अन्तर्गत उन सब काव्यों को मानना होगा जो प्रतिपाद्य विषय तथा अभिव्यंजना की शैली के कारण वर्तमान हिन्दी काव्यों का सर्वमान्य विशेषताओं से युक्त हों, जिनमें चित्रों द्वारा अभिव्यंजना प्रधान हो, प्रकृति के नाना रूपों की परख तथा अभिव्यंजना में एक प्रकार का आध्यात्मिक रंग हो। छायावाद केवल रचना प्रणाली ही नहीं नवीन दृष्टिकोण और नवीन विचारधारा भी है। आध्यात्मिक रंग और हृदय की अभिव्यंजना की यह पद्धति केवल काव्य में ही चली हो यह बात नहीं, प्राय सभी कलाओं में इसका प्रभाव थोड़ा बहुत देखा जाता है।"

"छायावाद केवल कविता में ही नहीं होता वरन चित्रकला संगीत और सब ललित कलाओं में होता है। वनस्थली में स्थ्याकालीन रतव्यतामय धुंधला आलोक जिसमें ध्वनि और रूप एक होकर शान्तिमय अनन्त सौन्दर्य का उत्पादन करते हैं, प्राकृतिक छायावाद का उदाहरण है, बगल

की चित्रकला उसी छायावाद का अनुकरण करती है ★ ।"?

छायावाद और रहस्यवाद का यह अर्थ समझ लेने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि दोनों वादों में कोई प्रकृति का नित्य सम्बन्ध नहीं है, परन्तु छायावाद एक विशिष्ट रचना-प्रणाली और विचार-प्रणाली का सम्बन्ध है। इसमें अध्यात्म का रंग इस कारण अधिक होता है, कि शृंगार अथवा करुण का अवलम्बन प्रायः अस्पष्ट रहता है, उसका पूर्ण आभास नहीं दिया जाता। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार जायसी आदि पुराने रहस्यवादी अलौकिक प्रेम विरह को लौकिक कहानियों के रूप में चित्रित करते थे ठीक उसके विपरीत वर्तमान काल के कवि लौकिक प्रेम विरह का आध्यात्मिक भाषा में वर्णन करते हैं।

वर्तमान काव्यसाहित्य की प्रमुख छायावादी कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने छायावाद के आविर्भाव तथा उसके महत्व का विवेचन करते हुए बड़े ही सुन्दर ढंग से उसके असली स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। उनका कहना है कि "छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में चलता आरहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गया अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघुतृण, और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएं, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्वल विद्युत रेखा मानव की लघुता, विशालता, कोमलता, कठोरता, चंचलता, निश्चलता और मोहज्ञान का

★ छायावाद क्या है? —गुलाबरायजी एम० ए०, सरस्वती अप्रैल १९३४।

केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर हैं। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयत्न किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।

'परन्तु इस सम्बन्ध में मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया। रहस्यवाद नाम के अर्थ में छायावाद के समान नवीन न होने पर भी प्रयोग के अर्थ में विशेष प्राचीन नहीं। प्राचीन काल में परा या ब्रह्मविद्या में इसका अंकुर मिलना अवश्य है परन्तु इसके रागात्मक रूप के लिए उसमें स्थान कहाँ? वेदान्त के द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि या आत्मा की लौकिकी तथा पारलौकिकी सत्ता विषयक मतान्तर मस्तिष्क से अधिक सम्बन्ध रखते हैं हृदय से नहीं, क्योंकि वहाँ तो शुद्ध बुद्ध चेतन को विकारों में लपेट रखने का एक मात्र साधन है। योग का रहस्यवाद इन्द्रियों को पूर्णतः वश में रखके आत्मा की कुछ विशेष साधनाओं और अभ्यासों द्वारा इतना ऊपर उठ जाना है कि वह शुद्ध तत्त्व में एकाकार हो जाता है। सूफियों के रहस्यवाद में अवश्य ही उपासना, आत्मानुभूति और चिरन्तन प्रियतम का विरह सम्मिलित है परन्तु साधनाओं और अभ्यासों में वह भी योग के समकक्ष रखा जा सकता है और हमारे इस प्रकार का रहस्यवाद यौगिक क्रियाओं से मुक्त होने के कारण योग [illegible] आत्मा और परमात्मा के मानवीय सम्बन्ध के कारण वैष्णव युग [illegible] तक पहुँचे हुए प्रणय-निवेदन से भिन्न रहा।

महादेवी जी का रहस्यवाद

यद्यपि छायावाद का इतिहास बतलाते हुए हम यह दिखला चुके हैं कि हमारा वर्तमान छायावादी साहित्य अपने इस अभिनव स्वरूप के लिये बंगला का ऋणी है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिये कि हमारे कवियों ने केवल मात्र उन्हीं के पद-चिन्हों का अनुसरण किया। उन्होंने भारतीय उपनिषदों का सार लेकर इस विचित्र रचना-प्रणाली में कुछ ऐसा रंग घोला कि वह सर्वथा अपनी होगई और हिंदी में उसका बिल्कुल स्वतंत्र विकास होना प्रारंभ होगया। हमारे यहाँ रहस्यवाद काल के मुख्य कवियों में प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी का ही नाम लिया जाता है। इनमें महादेवी जी तो वस्तु और शैली दोनों ही रूपों में रहस्यवादी कही जा सकती हैं। जहां तक महादेवी जी के रहस्यवाद का सम्बन्ध है वह शुद्ध सांस्कृतिक रूप में भारतीय भावना से ही अनुप्राणित है। ध्यानपूर्वक विचार करने से महादेवी जी में उसी रहस्यवाद के निर्मल दर्शन होते हैं जो हमारे उपनिषदों का सार रूप है और जिसे कबीर ने अपनी भावुक तन्मयता और उपासना या एकाग्रता से भारतीय जीवन के नस नस में ओतप्रोत कर दिया था। स्वयं महादेवी जी ने अपने रहस्यवाद के इस स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है "आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली है, वेदांत के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की लौकिक प्रेम से तीव्रता ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव सूत्र में बांध कर एक निराले स्नेह की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।" इस प्रकार उन्होंने भारतीय रहस्यवाद का

इसी मतवाली विरहणी को अपने रूप में साकार कर महादेवी जी ने कबीर की 'हरि की दुलहिन' को भी विरहविदग्ध नारी स्वरूप में ही परिणत कर दिया है। इतना ही नहीं अपने प्रियतम से मिलने के लिए उसे जिन जिन अन्तर स्थितियों में होकर गुजरना पड़ता है उसका बड़ा ही मार्मिक और स्वाभाविक चित्रण इन्होंने किया है। देखिए उनकी विरहणी को स्वयं तिल तिल जलने की जरा भी चिन्ता नहीं है, उसे केवल यही फिक्र है कि कहीं मेरे दीपक के जलने से जो कालौंच उत्पन्न होगी उससे प्रिय का पन्थ न काला हो जाए। कितनी मार्मिक भावना है, भारतीय नारी के अनुरूप ही। प्रेमी किस प्रकार अपने प्रिय को प्रसन्न करने के लिए अपने सारे अरमानों को उस पर निछावर कर डालता है, इसका यह अत्यन्त भव्य उदाहरण है—

यह न झंझा से बुझेगा
वन मिटेगा मिट बनेगा
भय यही है हो न जावे, प्रिय तुम्हारा पंथ काला
(सा० गी०, पृ० ६)

कबीर की 'राम की दुलहिन' भी उस विराट प्रियतम से मिलने के लिए तरह तरह के सजाव शृंगार करने में व्यस्त रहती है। सारा विश्व जिसका व्यक्त रूप है, ऐसे प्रियतम से संयोग करने के लिए उसे असाधारण तैयारी करने की आवश्यकता है। वह सदैव यही सोचा करती है कि वह उसके योग्य अपने को बना भी सकेगी या नहीं, क्योंकि न तो उसके मन में विश्वास ही है, न प्रेम की परिपूर्णता ही। बेचारी को ठीक ठीक सऊर और सलीका भी तो नहीं है—

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जाणूँ उस पीव सूँ, कैसे रहसी रंग।

इस प्रकार दोनों अपने प्रियतम की आराधना में सजगता और उत्सुकता से साधनलीन होकर मिलन के क्षण की प्रतीक्षा किया करते हैं।

इनके रहस्यवाद का मूलतत्व अद्वैतवाद ही है। उन्होंने इस जीव को ब्रह्म के विरह में व्याकुल बताया है जो प्रतिक्षण अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया करता है। इस द्वैतवादी स्वरूप को अद्वैत में लीन कर देने को ही आपने जीवन का सार्थकता माना है और उसी के लिए आप सतत प्रयत्नशील हैं। और फिर जिससे वे स्वयं एक प्रश्न है, जिससे अलग उनका कोई अपना अस्तित्व नहीं, उससे अपना परिचय भी क्या बतलाने जाएँ —

> एक ही आदि अंत की सांस
> कहे वह क्या पिछला इतिहास
>
> (रश्मि, पृ० ४३)

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को अपने अनुभव आपने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

> मैं तुममें हूँ एक, एक है
> जैसे रश्मि प्रकाश
>
> मैं तुमसे हूँ भिन्न
> भिन्न ज्यों घन से तड़ित विलास।
>
> (रश्मि, पृ० ६०)

प्रकाश और रश्मि तथा घन और तड़ित का सम्बन्ध दिखला कर आपने आत्मा और परमात्मा के अभेद सम्बन्ध की ओर जो संकेत किया है वह सर्वथा स्वाभाविक और अपने ढंग का अनोखा है। "एक में अनेक और अनेक में एक" का आभास पाना ही अद्वैतवाद किम्वा का सार है।

महादेवीजी में दार्शनिक और कवि का बड़ा ही सुन्दर समन्वय हुआ है। आपने उपनिषदों की शुष्क दार्शनिकता को भी अपने हृदय के साँचे में ढालकर सरस और हृदयग्राही बना दिया है। रहस्यवादी कवि विश्व के कण कण में अपने ही प्रियतम का स्वरूप चित्रित पाता है। वह अपने जीवन को प्रकृति के साथ इतना घुला मिला देता है कि उसमें अपने और पराए की भेद-भावना ही नहीं रह जाती, वह सब का हो जाता है, सब उसके हो जाते हैं। यह जो निस दिन के अन्वेषण में वह भटका करता है, वह केवल इसीलिए जिससे वह सर्वभूत हितरत अपने स्वरूप को पहिचान सके और इस अखिल ब्रह्माण्ड से अपने अनन्त सम्बन्ध का परिचय प्राप्त कर सके—

तुम मानस में बस जाओ
    छिप दुख की अवगुंठन से
मैं तुम्हें ढूँढ़ने के मिस
    परिचित हो लूँ कण कण से।

(रश्मि, पृ० १४)

इस तरह महादेवीजी में हम स्वाभाविक रहस्य-भावना का यत्र-तत्र बड़ा सुन्दर चित्रण पाते हैं। अपने प्रियतम के सत्य स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर आपके सम्मुख एक समस्या खड़ी हो जाती है कि जब उसमें मुझमें कोई अन्तर ही नहीं, तब इस प्रेयसि और प्रियतम के अभिनय की क्या आवश्यकता? अभेद की भावना तो द्वैतवादियों के लिए है। 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने वाले इस व्यर्थ के बखेड़े में क्यों पड़ने लगे? उनके सामने स्वर्ग अपवर्ग का महत्त्व ही क्या, वह तो स्वयं पूर्ण काम हैं। इसीलिए आप बार-बार प्रश्न करने लगती हैं कि—

तुम मुझमें प्रिय, फिर परिचय क्या?
मुझमें नित बसते मिटते प्रिय

स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या
काया छाया में रहस्यमय
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या?
(नीरजा, पृ० २६)

वेदान्त के दर्शन का ग्रहण भी आपने स्थान-स्थान पर बड़ी सुन्दरता से किया है। आत्मा के स्वरूप को व्यक्तिगत सकुचित दायरे से निकाल कर जहां व्यापक विराट रूप में देखने का प्रयत्न आपने किया है, वहा आप साधना की चरम सीमा पर पहुंची हुई मालूम पड़ती हैं। उनमें सारे द्वन्द्व समाहित से दिखाई पड़ते हैं, वे ही वह शक्ति का रूप धारण करती दिखलाई पड़ती हैं जो लय, उद्भव और पालन करती हुई इस विश्व के सचालन में समर्थ हैं। ऐसे ही अवसरों पर आप कहती हैं—

बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं
नाश भी हूं मैं अनन्त विकास का क्रम भी
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का, तम भी
तार भी आघात भी झंकार भी गति भी
पात्र भी, मधु भी मधुप भी मधुर विस्मृति भी
अधर हूं और स्मित की चादनी भी हूं
बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं
(नीरजा, पृ० २१)

ऐसी स्थिति में उन्हें वह समष्टि प्राप्त हो जाती है जिसके कारण वे वीतराग हो जाती हैं, द्वन्द्वमुक्त मालूम पड़ती हैं क्योकि उन्हे तो जीवन और प्रलय दोनों में से किसी में भी विशेष अन्तर नहीं मालूम पड़ता—

सुन रही हूँ एक ही झंकार
जीवन में, प्रलय में
(नीरजा, पृष्ठ १२)

इस प्रकार मजहबी रहस्यवाद को काव्य में ढाल कर उन्होंने जो स्वाभाविक रहस्यवाद का स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित किया है वही तो सदा से भारतीय दर्शनों का प्राण रहा है। इसी स्वाभाविक रहस्य भावना के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी ने कहा है कि "स्वभाविक रहस्यभावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमें सन्देह नहीं"। रसभूमि में इसका विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों मेंसे एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा (Mood) मानते हैं, जिसका अनुभव ऊँचे कवि और अनुभूतिया के बाच कभी २ प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं!" रहस्यवादी कवियों ने प्रकृति के कोने-कोने में अपने प्रिय को खोजा है। प्रकृति की अनेक रूपता का दिदर्शन कराना उनका मुख्य ध्येय रहा है, जायसी के पदमावत में हमें इस अनेक रूपता के दर्शन होते हैं, इसी प्रकार महाकवि शेली की Epipsychidion इन रूपों से भरी पड़ा है। महादेवी जी में हम इस अनेक रूपता का अभाव नहीं पाते। इन्होंने अपना रहस्य भावना को व्यक्त करने के लिए जिन प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन किया है, वे मर्मस्पर्शी और हृदयहारी हैं। इनके काव्य में चित्रों का अनेक रूपता के साथ साथ मधुरता और लावण्य भी है। उस परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य सत्ता द के वे इन्हीं सांकेतिक और प्राकृतिक व्यापारों द्वारा इशारा कराती हैं,जो लौकिक व्यवहारों द्वारा हमारे हृदय से काफी सामञ्जस्य प्राप्त कर चुके हैं। इससे इनकी रहस्य भावना में सरलता और स्पष्टता का गुण हर एक स्थल पर विद्यमान रहता है। महादेवी जी के रहस्यवाद के परिचय रूप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा, आगे 'विचार धारा' के अन्तर्गत हम इसका विवेचन करने का प्रयत्न भी करेंगे।

गीति-काव्य की प्रधानता

हमारा वर्तमान काव्य साहित्य गीति प्रधान है। आज जिस प्रकार इन सरस्वती सेवकों की कल्पनावाणी में काव्य का मुक्त एवं स्वच्छन्द प्रवाह अन्तर्गति निम्पक प्रणालियों को बाहर बिखेरता हुआ बह चला है, कदाचित् इतने विस्तृत रूप में वह पहले कभी प्रवाहित नहीं हुआ था। इसका अर्थ यह नहीं कि इसके पहिले हमारे साहित्य में गीति काव्य का कोई स्थान ही नहीं था। था और बड़े ही माधुर्यपूर्ण स्वरूप में। जब तक साहित्य इस भूमण्डल में मानव जगत् के अन्तःकरण में उथल-पुथल मचाता रहेगा, तब तक लोचनविहीन सूर के वात्सल्य गायन, मीरा के उस शाश्वत प्रियतम के प्रति सहज एवं सुलभ उपास्य भावना के गीत, विद्यापति की शृंगार रस से ओत प्रोत चुलबुली पदावलियाँ और घनानन्द का विरह विदग्ध वाणी से निकले हुए विदग्ध प्रेमी हृदय के वेदना गीत अमर रहेंगे। आज भी 'मैया कब बाढ़ैगी चोटी' को सुनते ही प्रत्येक मातृ हृदय अपने अपने बाल-गोपाल के भोलेपन का चित्र अपने सामने चित्रित पाती है। प्रत्येक विरहिणी नारी अपने सूने कक्ष में बैठी हुई एक विवशता भरी आह खींच कर कह उठती है—"हे री, मैं तो प्रेम दिवानी मेरो दरद न जानै कोय" और आज भी न जाने कितने उपेक्षित प्रेमी सावन घनों की उमड़ घुमड़ देख कर उन्हें सम्बोधित करते हुये बिना यह कहे नहीं मानते कि—"कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसो'।" इन सबसे उनके हृदय को कितनी शाँति, कितना विश्राम मिलता है, यह शब्दों में व्यक्त करने की बात नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे प्राचीन साहित्य में उत्कृष्ट गीति काव्य का अभाव नहीं पाया जाता, कहीं कहीं तो उसमें इतना मार्मिक

अनुभूतिपूर्ण भावनाओं का समावेश मिलता है, जिसके सम्मुख आजकल की अधिकांश उक्तियां जूठन मात्र मालूम पड़ती हैं।

हमारे साहित्य में द्विवेदीकाल के बाद जो गीति-काव्य की धारा मिलती है उसकी कुछ अपना अनोखी प्रवृतियां हैं। यह गीत अंगरेजी के प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। गीत कभी वाह्यर्थ-निरूपक (Objective) न होकर सदैव अंतर्वृत्तिनिरूपक(Subjective) ही होते हैं। दूसरे शब्दों में हम इन्हें कवि का आत्मनिवेदन कह सकते हैं, इसी कारण इनमें कवि की वैयक्तिक अनुभूति की प्रधानता होती है, एक भावना के साथ ही गीत भी समाप्त हो जाता है। आंग्ल साहित्य में गीतों के स्वरूप की बड़ी सुन्दर विवेचना की गई है। सहूलियत के लिए उन्होंने गीति-काव्य के अवयवों को आठ भागों में विभक्त कर दिया है—

(1) It is musical metrically or verbally or both. (2) It is subjective in character. (3) It is the expression of a single emotion and so achieves unity. (4) It is spontaneous, unpremiditated or rather appears so (5) Compared with other kinds of poetry it is short (6) It enjoyes an endless varidty of fo ms (7) It is embellished with consumate (though concealed) art (8) There is often a wishful or ha nting loveliness which eludes all tests.

अर्थात् (१) छन्द और भाव की दृष्टि से इसे संगीतमय होना चाहिए (२) इनमें अंतर्वृत्ति निरूपण प्रधान होता है (३) एक ही भावना की अभिव्यंजना होने के कारण इनमें एकरूपता पाई जाती है (४) इनका प्रवाह स्वयं प्रसूत या अबुद्धिपूर्वक स्वाभाविक गति से संचरित होता है

(५) दूसरे काव्य प्रकारों के साथ तुलना करने पर इनका रूप छोटा मालूम होता है (६) इनकी सजावट के लिए सिद्धहस्त कला का सहारा लिया जाता है। (७) इनके भिन्न भिन्न आकार और स्वरूप होते हैं (८) प्रायः कुछ ऐसी मनोमोहकता और आकर्षण का समावेश होता है जो पढ़ते ही सर्वसाधारण के हृदय को स्पर्श कर लेता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीति काव्य भावावेग में व्यक्त की हुई सुख-दुख, मिलन-विरह आदि की उन्मुक्त और आवेगपूर्ण अनुभूतियों का चित्रण होता है। गीति काव्य की सफलता भी यही है कि वह व्यक्तिगत अनुभूति होने पर भी इतना व्यापक हो कि देशकाल के परे मनुष्यमात्र के हृदय का अवलम्बन बन सके।

इसके अतिरिक्त वर्तमान काल में गीतिकाव्य के बाहुल्य के सामाजिक और ऐतिहासिक कारण भी हैं। आज का हमारा जीवन कल से कहीं अधिक संघर्ष पूर्ण और व्यस्त होगया है। अब तो न कवि समाज को राज दरबारों का ही ठिकाना है और न बैठे ठले हृदय के गुबारों को निकालने का अवसर ही। हमको विश्राम के लिए जो थोड़ा सा अवसर मिलता है उसी समय में हम अपनी मानसिक अशांति भी दूर कर लेना चाहते हैं। इसी कारण लम्बे लम्बे उपन्यासों का स्थान कहानियों तथा चारचार पाँच-पाँच घंटों में समाप्त होने वाले नाटकों का स्थान एकांकियों ने ले लिया है। यही बात काव्य के इस प्रगीत मुक्तक के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

दूसरे, गीति- काव्यों की उद्भावना वर्तमान जीवन की भौतिकवाद की प्रतिक्रिया के रूप में भी हुई है। इस मशीन युग की जड़ता एवं स्थूलता ने हमें चारों ओर से इस प्रकार आच्छन्न कर लिया था कि हमारा दम अन्दर ही अन्दर घुटने लगा था। अतएव अवसर पाते ही हृदय की भावनाएँ ता अलग निकल कर दूसरी सीमा की ओर अपने पैर बढ़ाने के प्रयत्न किये। ससीम से असीम की ओर यात्रा करने की आयोजना की। यूरोप में भी जब

औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के फलस्वरूप चारों ओर भौतिकता का ही एक मात्र साम्राज्य स्थापित हो रहा था तभी वर्ड्स-वर्थ, शैली आदि विभूतियों का आविर्भाव हुआ था। इनका कार्य विश्व के बाह्याकार की ओर से ध्यान हटाकर उसके हृदय पक्ष की ओर निर्देश करना था। गुलाब की पंखुड़ियाँ और नसें गिनते गिनते जब बायोलोजिस्ट उसके विश्लेषणात्मक व्यापार से थक जाता है तब अचानक उसे उसके सौन्दर्यपूर्ण स्वरूप और मदालस गंध की ओर भी आकर्षण जाग उठता है। यह प्रतिक्रिया प्रकृति का एक साधारण नियम है। इन अन्तर्गति निरूपक गानों का स्वाभाविक विकास बतलाती हुई महादेवी जी ने भी कहा है कि 'हमारा व्यस्त और वैयक्तिक प्राधान्य से युक्त जीवन हमें काव्य के विषय अनन्त की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं। अपनी प्रत्येक कम्पन को अंकित कर लेने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पाने के लिए विकल हैं। संभव है यह उस युग की प्रतिक्रिया हो जिसमें कवि का आदेश अपने विषय में कुछ न कह कर संसार भर का इतिहास कहना था। हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आहत करना था। इस युग के गानों की एकस्वरता में भी ऐसी विविधता है जो उन्हें बहुत काल तक सुरक्षित रख सकेगा। इनमें कुछ गान मलय समीर के झोंके के समान हमें बाहर से स्पर्श कर अन्तरतम तक सिहरा देते हैं, कुछ अपने दर्शन से कोमिल पंखों द्वारा हमारे जीवन को सब ओर से छू लेना चाहते हैं, कुछ किसी अलक्ष्य डाली पर छिप कर बैठी हुई कोयल के समान हमारे किसी भूले हुए स्वप्न की कथा कहते रहते हैं और कुछ मंदिर के पूत धूम के समान हमारी दृष्टि को धुंधला परन्तु मन को सुरभित किए बिना नहीं रहते।

सच पूछिये तो इसके पहले हमारे काव्य में हृदय पक्ष का निरूपण था ही कहाँ? कवियों की दृष्टि चोटी के फूल से एड़ी के महावर तक ही अटक कर रह जाती थी। नायिका भेद और नख शिख शृंगार की भूलभुलइयों में हमारे

कवि-गण कुछ ऐसा भूल गए थे कि कुए के मेंढ़क के समान उन्होंने उसी को संसार समझ रखा था। किसी दृश्य का चित्रण देखिए—नायिका मन्दिर में पूजा करने जारही है, उसके हाथ में कंचन की थाली है, थाली में एक ओर धूपदानी, कुंकुम, अक्षत, पुष्प आदि रखे हुए हैं कमर में लोच है, आँखों में काजल, पैरों में पायल बस इसी प्रकार वर्णन की कलाबाजियां दिखाकर कवि-कर्म की समाप्ति समझी जाती थी। पर उस पुजारिन के अंतःकरण में जो उपास्य भावना, आत्मसमर्पण की उत्सुकता अंत सलिला की भाँति प्रवाहित थी, उसका कहीं नामनिशान तक नहा। संभवतः इसी वस्तु वर्णन के विरोध स्वरूप आज हमारे गीति-काव्यों में आत्माभिव्यंजन की प्रचुरता दिखलाई पड़ती है।

आचार्य शुक्ल जी ने काव्य को दो भागों मे विभाजित किया है। (१) आनन्द का साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले और (२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले। हमारे प्रगीत मुक्तक इसी सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष के अंतर्गत आते हैं। इसी लिए तो कवियत्री जो न सुख दुख के भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देने को ही गीत माना है। असल में गीत के कवि को अपने हृदय पर बहुत अधिक संयत रखने का आवश्यकता पड़ता है, हृदय के प्रत्येक भाव को अधिक से अधिक संहत रूप (Compact form) में उपस्थित करना पड़ता है। थोड़े से शब्दों में ही उसे बहुत कुछ कहना होता है, उसके वर्ण वर्ण उर का कम्पन और शब्द शब्द सुधि के दर्शन होते हैं। इस प्रकार कवि को अपने रक्त से एक एक पंक्ति का मूल्य चुकाना पड़ता है, मानव हृदय को सुख-शान्ति प्रदान करने के लिए अपने को बलिदान कर देना पड़ता है, तभी तो उसको साधक कहा गया है। महादेवी जी ने इसी संयम और साधना की ओर बार बार संकेत किया है— इसमें कवि को संयम का परिधि में बंधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है, वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्राय: भाव की अतिशयता में कला

की सीमा लांघ जाते हैं और उसके उपरान्त भाव के सस्कार-मात्र में मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ दु:खातिरेक की अभिव्यक्ति अतिक्रंदन या हाहाकार द्वारा भी हो सकता है, जिसमें संयम का नितान्त अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल होने में भी है, जिसमें संयम की अधिकता के साथ-साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत शमन हो जाने की संभावना रहती है। उसका प्रकाशन एक दीर्घ निःश्वास में भी है, जिसमें संयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देता और उसका प्रदर्शन-करुण निस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है, जो निष्क्रिय बन जाता है। वस्तुतः में गान के कवि को अतिक्रंदन के पीछे छिपे हुए दुःखातिरेक को दीर्घ निःश्वास के छिपे हुए संयम से बांधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भावना का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा। गीत यदि दूसरे का इतिहास न कह कर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं। मीरा के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था, उसके साथ राज-रानीपन और आतरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना की प्रेमानुभूति थी। अतः उसकी "हेरी मैं तो प्रेम-दिवानी मेरो दरद न जाने कोय" सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी वेदना का स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।

गीति-काव्य और संगीत का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। एक में मनुष्य अपने हृदय का भार हल्का कर देता है और दूसरे में अपने को तन्मय कर देता है। हमारी समझ में इन गीति-काव्यों का विकास मानव स्वभाव की संगीतप्रियता से ही हुआ है। गेय होने के कारण ही इनका गीत नाम पड़ जाना नितान्त स्वाभाविक मालूम पड़ता है। अंग्रेजी का लिरिक (Lyric) शब्द लायर (Lyre) नाम के बाजे के वजन पर बना है। हमारे यहाँ भी पहले गेय काव्य शब्द उसके लिए प्रयुक्त होता था। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल संगीत ही काव्य है, इस तरह तो संगीत और काव्य में काफी अन्तर है। संगीत का

सौन्दर्य होता है गायक के स्वर और उसके हृदय के कम्पन में, काव्य का सौन्दर्य होता है भाव और भाषा में। परन्तु गीति-काव्य साधारणतया गाया जा सकता है या यह कह सकते हैं कि इसमें काव्य और संगीत का सुन्दर समन्वय होता है। इनमें भाव व्यंजना का तत्व है और रस स्वरूप। "प्राचीन हिन्दी साहित्य का भी अधिकांश गेय है, तुलसी के इष्ट के प्रति विनीत आत्म निवेदन गेय है, कबीर का बुद्धिमय तत्व-दर्शन संगीत की मधुरता में बसा हुआ है, सूर के कृष्ण चरित का बिखरा हुआ इतिहास भी गीतिमय है, और मीरा की आध्यात्मिक पदावली तो सारे जगत की सम्पत्ति हो कहे जाने योग्य है।

आज अपने साहित्य में प्रगीत मुक्तकों का बाहुल्य देखकर हम कह सकते हैं कि सूर, तुलसी, मीरा, विद्यापति आदि महान् कलाकारों का बोया हुआ बीज सदियों बाद आज अनुकूल जल-वायु पाकर, कवि-हृदय में आँसुओं के जल से सिंचित होकर नूतन कोंपल के रूप में फूट पड़ा है, पहले से अधिक विकसित, अधिक कलात्मकता युक्त। इस विकास को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं (१) प्रसाद की काव्य-प्रतिभा में (२) माखनलाल, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार, बच्चन इत्यादि का मुक्तक विकास (३) स्वच्छन्द गीति काव्य, भगवतीचरण और बच्चन आदि (४) पन्त का युगान्त और युग-वाणी तक का चिन्तन।

प्रधान रूप से इसके उपभेदों में दो ही स्वरूप माने जाते हैं — *(१) महादेवी स्कूल (२) पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का स्वच्छन्द गीतों का ढंग।*

स्वर्गीय प्रसाद जी ने तो अपने गीति-काव्य का प्रारंभ नाटकों के गीतों द्वारा ही किया है। इन्हीं में हमें छायावादी अभिव्यंजना की नूतन पद्धति के सर्व प्रथम दर्शन होते हैं। कविवर निराला अपने साथ स्वच्छन्दता की एक धार ले कर आए। उन्होंने बंगला के सम्पन्न साहित्य में प्रवेश कर पुराने रूढ़ी

से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी गीति काव्य को भाव और भाषा का उपयुक्त देन महादेवी जी के कवित्व से ही प्राप्त हुई है। कविवर रवीन्द्र ने ऐसे ही गीतों के विषय में कहा है कि 'अंग्रेजी गान जन-समूह में गाने योग्य हैं और हम लोगों के गान निर्जन एकांत में गाने योग्य'। आज जो हिन्दी-संसार में प्रगीत मुक्तकों की बाढ़ सी आगई है, वह महादेवी जी की ही शैली और भाषा के अनुसरण पर चल रही है। श्रीरामकुमारवर्मा, नवीन आदि इसी स्कूल के अंतर्गत आते हैं।

महादेवी जी का दुःखवाद

जहां हम इस युग को गीति-काव्य कह चुके हैं, वहां हमें यह कहते हुये तनिक भी संकोच नहीं होता है कि वर्तमान गीत कवियों में महादेवी जी का स्थान सर्वोच्च है। जैसे मीरा की आत्मा इस जड़ भौतिक युग को भी सम्प्लावित करने के लिए अवतरित होगई है। इनके प्रत्येक शब्द और पद से यही ध्वनि निकलती हुई प्रतीत होती है।

हेली मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाने कोय।

महादेवी जी में यद्यपि दुःखवाद प्रधान नहीं है, परन्तु उनकी इस करुण स्रोतस्विनी का उद्गम इसी दुःखवाद में ही मिलता है, इसलिए इसके विषय में दो शब्द कह देना उपयुक्त होगा। आपकी दुःखवादी भावना के दो मुख्य कारण हैं—(१) पहली तो युग के नैराश्यपूर्ण जीवन की छाया और (२) बुद्ध भगवान की फिलासफी का प्रभाव।

आपकी पहले की रचनाओं में जो दुःख की छाया हमें देखने को मिलती है उसका कारण किसी आध्यात्मिक तत्व में न ढूंढकर जीवन और समाज की परिस्थितियों में खोजना अधिक समीचीन होगा। किसी कवि की [illegible],

निराशावादी या दुःखवादी घोषित करने के पहले हमें उन परिस्थितियों का परिचय प्राप्त कर लेना परमावश्यक हो जाता है, जिनके मध्य रह कर उस कवि ने साहित्य की साधना की है। हमें यह देखना है कि जिस समाज में कवि सोता, जागना, उठना, बैठना, हँसता और रोता है, उसका आज क्या रूप है। सहृदय जिज्ञासु तुरन्त ही इसी नतीजे पर पहुंचेगा कि यह दुखःवाद कवियों के जीवन का आर्त क्रन्दन नहीं वरन् हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के ह्रास के परिणाम स्वरूप है। यों तो अनादि काल से दुःख, विरह और करुणा मानव हृदय की चिरन्तन भावनाओं में से हैं। मनुष्य ने हँसना किस समय सीखा यह कदाचित ही कोई बतला सके, परन्तु इतना सभी को मालूम है कि मनुष्य पृथ्वी पर अपने अस्तित्व का आभास पाते ही करुण-क्रंदन से सारा वायु-मंडल गुंजित कर देता है। मानव की दुखः और वेदना-प्रियता की अभिव्यंजना संभवतः यहीं से आरम्भ होती है। इसके अतिरिक्त यह कहना कि दुख और करुणा हमारे जीवन के पतन और ह्रास के चिह्न हैं, सर्वथा निरर्थक प्रतीत होता है। मानव कभी संतुष्ट साक्रेटीज नहीं रहा है, असन्तुष्ट सूकर भले ही रहा हो। यह दुख-प्रियता की भावना हमारे गत्यात्मक जीवन की प्रगति का चिन्ह है। निराशा और दुख तो उसी को होता है, जो किसी महान् सत्य की खोज में बावला बना फिरता है। जिन्हें अपनी अपूर्णता से कभी असंतोष ही नहीं होता वे इस सतत गति-शील, दुःख वेदना और करुणा तत्व का आशय ही क्या समझ सकेंगे। सचमुच दुःख ही जीवन का असंदिग्ध सत्य है। मानव-जीवन में दुःख और सुख का भाई बहन का सम्बन्ध है। महाकवि शैली ने अपनी विपत्ति (Misery) शीर्षक कविता में लिखा है:—

Misery we have known each other
Like a sister and brother.

इसी विपत्ति से अपने आपको मुक्त करने के लिए उन्होंने जो बादल, लहर और पत्ती का रूप धारण करने का आह्वान किया है उसमें समस्त संसार के दुःख वाद से छुटकारा पाने की ओर संकेत किया गया है।

Of lift me like a wave, a leaf, a cloud
I fall upon the thorns of life, I blee.

क्या आप समझते हैं. यह केवल शैली के हृदय का ही चान्कार था ? नहीं, उसमें चिरकाल से अपनी अपूर्णता से युद्ध करती हुई मानवता का करुण क्रंदन निहित है। किसी उर्दू के शायर ने भी कहा है कि

जब से उस आलमे फानी में हुए हम पैदा।
कि शवरे दिल में उसी दिन से हुआ गम पैदा॥

मानव ने इसी दुःख वाद को दूर कर सकने में ही तो अपने जीवन-पथ का अग्रसर कर सकने में साहस और शक्ति का सतत संचय किया है। शैल ने इस द्वंद का भी चित्रण बड़ी ओजस्वी और हृदयग्राही भाषा में किया है

We look before and after
And pine for what is not
Our sincerest laughter
With sence pain is pought
Our sweetest songs are those that tell of
saddest thought.

इस pine for what is not में ही तो जीवन का शाश्वत द्रोह का माग रहस्य अन्तर्निहित है। इसी कारण तो हमारे मधुरतम गायन वही माने जाते हैं जो हमारा प्रगाढ़तम वेदना का व्यंजना में समर्थ हो पाते हैं। अपने जीवन का सीमाओं तथा समाज की स्वेच्छाचारिता तथा कठमुल्लेपन के विरुद्ध इसी प्रकार हमारे सुकुमार कवि पं० सुमित्रानंदन पन्त की वाणी भी फूट पड़ी है।

हृदय ऐ, अपने दुख का भार,
हृदय ऐ, यह जग स्वेच्छाचार
हृदय ऐ, उनको है अधिकार
शिशिर का सा समीर संचार

परन्तु यह भयानक दुःखवाद हमें निराशावाद की ओर नहीं ले जाता,

इसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। इन दुःखवादियों की वाणी में समस्त विश्व के लिए मगल कामना का सदेश छिपा मिलता है। उसी कवि के मुख से हमें यह सदेश भी सुनाई देता है कि—

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय नित नूतन

कुछ लोगों की राय में इस जागृति के युग में दुःख और करुणा के गीत गाना राष्ट्र की नपुंसकता का प्रदर्शन करना है। उनके अनुसार तो इस समय केवल वीर रस की ही चर्चा छिड़ी रहना चाहिए, क्योंकि वीर रस हमारे जीवन में नव स्फूर्तियाँ, नव प्रेरणाएँ और नवयुग निर्माण की नवशक्तियों का प्रादुर्भाव करता है। यह कहना कुछ मात्रा तक ठीक भी है, किन्तु यह वीर रस चाहे हमें थोड़े काल के लिए उत्तेजित कर प्राण तक लेने का साहस प्रदान कर दे, किंतु चिरकाल तक जलना रहने वाली भीषण हृदय की आग को प्रज्वलित रखने का अधिकार तो दुःख और करुणा को ही मिला है। दुःख और करुणा की ज्वाला ने भगवान बुद्ध के हृदय में वह भीषण रूप धारण किया जिसके समस्त संसार के कठोर से कठोर पाषाण-हृदयों को भी मोमवत् हो जाना पड़ा। इस दुःखवाद के प्रभाव को अधिक स्पष्ट करती हुई महादेवी जी 'रश्मि' की भूमिका में लिखती हैं—दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेले भोगना चाहता है, परन्तु दुःख सबको बाँट-कर—विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्ववेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।

महादेवी जी के प्रारम्भिक गीतों में इसी व्यापक दुखवाद की मार्मिक व्यंजना की गई है। मानो भगवान बुद्ध की करुणा शताब्दियों बाद विश्व की व्यथा और पीड़ा से विकल देख करुणतम बनकर नारी हृदय की कोमलता में स्थान ढूंढने आ पहुंची है। इसी कारण बुद्ध की वाणी में जो विश्व की मंगल-कामना का स्वर छिपा हुआ है, वही महादेवी जी के काव्य का प्राण है। महादेवी जी ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में भगवान बुद्ध की दुखात्मक दर्शन फिलासफी का ऋण स्वीकार किया है। "बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्ति या अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुखात्मक समझने वाली फिलासफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।" इस दुखात्मक फिलासफी का परिचय गौतम के भी हृदय में असमय में ही हो गया था, जब वे एक समृद्धिशाली राज्य के प्रतापी राजकुमार के रूप में ऐश्वर्य भोग रहे थे। महादेवजी के भी जीवन में यह प्रेरणा मुग्धकाल में ही हुई है, फिर भला इस असमय परिचय का उपयोग विश्व को सुखमय बनाने में क्यों न हो! यही कारण है कि वे अपने चारों ओर दुख और पीड़ा का ही प्रसार देखती हैं। उसका प्रभाव उनके जीवन में इतना गहरा पड़ा है कि चाहे प्रियतम अपनी सारा करुणा उन पर न्यौछावर कर दें, किन्तु वे तो केवल इसी पीड़ा के ही सहारे उसे खोजने का प्रयत्न करेंगी—

> मेरे बिखरे प्राणों में
> सारी करुणा ढुलका दो
> मेरी छोटी सीमा में
> अपना अस्तित्व मिटा दो
> शेष नहीं होगी यह
> मेरे प्राणों की कीड़ा
> तुमको पीड़ा में ढूंढा
> तुम में ढूंढूंगी पीड़ा

इस दुःखवाद का इतिहास बहुत ही पुराना है । "तीर्थंकरों ने ईसवी के हजारों वर्ष पहले मगध में बौद्धिक विवेचना के आधार पर दुःखवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की । सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विवेक के तर्क ने जिस बुद्धिवाद का विकास किया वह दार्शनिकों की उस विचारधारा को अभिव्यक्त कर सका जिसमें संसार दुःखमय माना गया और दुःख से छूटना ही परमपुरुषार्थ समझा गया। दुःखनिवृत्ति दुःखवाद का ही परिणाम है। दुःखवाद जिस मनन-शैली का फल था वह बुद्धि या विवेक के आधार पर तर्कों के आश्रय में बढ़ती ही रही।" १

दुःखवादी अपने दुःखों को समस्त विश्व में व्यापक रूप में देखता है और सबके दुःख को अपना समझता है; यही उसकी विशेषता होती है । महादेवी जी ने अपनी प्रारम्भिक कविताओं में दुःख के इस विस्तृत स्वरूप में कई स्थानों पर अपने हृदय को रमाया है, मुरझाए फूल को देखकर आप भी दुःखी हो उठती हैं और उसे सम्बोधित करते हुए कहती हैं--

मत व्यथित हो फूल ! किसको
सुख दिया सन्सार ने ?
स्वार्थमय सबको बनाया है
यहां करतार ने
(नीहार पृष्ठ ५३)

और फिर,

जब न तेरी ही दशा पर
दुख हुआ सन्सार को
कौन रोएगा सुमन
हमसे मनुज निःसार को
(नीहार पृ० ५४)

---

१ कविवर प्रसाद :— 'काव्य और कला'

परन्तु जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं कि दुःखवादी अपने दुःख के अन्दर विश्व की मंगल-कामना का सन्देश लेकर आता है। महादेवीजी को भी पूर्ण विश्वास है कि उनके इसी दुःख से एक दिन असंख्य सुख के विश्व फूट पड़ेंगे—

> सोते जो असंख्य बुद् बुद्
> बेसुध सुख मेरे सुकुमार
> फूट पड़ेंगे दुःख सागर की
> सिहरी धीमी स्पन्दन में

(रश्मि, पृ० ३६)

अब ज़रा महादेवीजी के मुँह से उनके दुःखवाद के सम्बन्ध में भी कुछ सुन लीजिए। "अपने दुःखवाद के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। सुख और दुःख के धूप-छाँही तारों से बुने हुए जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है, यह बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। इस 'क्यों' का उत्तर दे सकना मेरे लिए भी किसी समस्या को सुलझा डालने से कम नहीं है। संसार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है परन्तु उस पर दुःख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि महादेवीजी ने वेदना और दुःख को पर्यायवाची माना है, फिर भी हमने उनमें दुःखवाद के स्वरूप को ही ढूँढने का प्रयत्न किया है। एक बात और उनकी दुःख की व्यंजना सुख के अभाव के कारण नहीं वरन् हृदय में उठती हुई स्वाभाविक सहृदयता और करुणा के व्यापक प्रभाव के कारण है। मानो वे कह रही हों—

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन
दिल के बहलाने को गालिब यह ख्याल अच्छा है।

सच पूछिए तो सुख जीवन को मरुभूमि में मृगमरीचिका के समान है। यह जीवन को मन से बड़ा प्रतारणा है, उसका आध्यात्मिक मूल्य कुछ नहीं। उनसे मनुष्य का हृदय मलिन, संकीर्ण, स्वार्थी तथा मदान्ध हो जाता है।

मृगमरीचिका के चिर पथ पर
सुख आता प्यासों के पग धर
रुद्ध हृदय के पट लेता कर
गर्वित कहता 'मैं मधु हूं मुझ से पतझर का क्या नाता ?'
(रश्मि, पृ० १२)

दूसरी ओर दुख हमारी प्रवृत्तियों को अधिक उदार तथा संवेदनशील बना देता है। आंग्ल भाषा के राजकवि जॉन मजफील्ड ने भी एक स्थान पर दुख को ही उन्नति का संबल माना है। Men are made great by the mighty fall उन्होंने भी दुख को Tower of the humen heart. कहा है।

धीरे धीरे यह इतना व्यापक रूप धारण कर लेता है कि इसी करुणा की स्रोतस्विनी से समस्त विश्व, चर, अचर रसप्लावित हो उठते हैं—

दुख के पद छू बहते झर झर
कण कण से आँसू के निर्झर
हो उठता जीवन मृदु उर्वर
लघु मानस में वह असीम जग को आमन्त्रित कर लाता।
(रश्मि पृ० १२)

सुख का तो महादेवी जी ने कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं माना है।

जब दुःख बढ़ते-बढ़ते अपनी सीमा पर पहुंच जाता है तब वही सुख का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार अभाव में ही पूर्णता देखने का उन्होंने सदैव प्रयत्न किया है, उनके लिए तो—

> चिर ध्येय यही जलने का
> ठंडी विभूति बन जाना
> है पीड़ा की सीमा यह
> दुख का चिर सुख हो जाना
> (रश्मि पृ० १४)

किसी शायर साहब ने भी इसकी ताईद की है—
'दर्द का हद से गुज़र जाना है दवा हो जाना।' ५

इस रहस्य को जान लेने के कारण महादेवी जी अहर्निश दुःख का ही आवाहन करती रहती हैं। उन्हें तो करुणानिधि का साक्षात्कार गहनतम अंधकार में ही हो जाता है, इसीलिए वे जीवन में यदा कदा प्रकाशित हो जाने वाली सुख की रश्मियों को भी बुझ जाने का ही आदेश करती हैं।

> करुणानिधि को आता है
> तम के परदों में आना।
> हे नभ की दीपावलियो!
> तुम क्षण भर को बुझ जाना
> (नीहार, पृ० ४३)

जो इस प्रकार जल कर मिटने में ही जीवन का सुख मान बैठा है, उसे फिर अपने जीवन-दीपक के बुझने की चिन्ता ही क्यों होने लगी! चिन्ता करे वह जिसने अपनी इच्छा से इस दीपक को प्रज्वलित किया था—

> चिन्ता क्या है हे निर्मम, बुझ जाए दीपक मेरा

हो जाएगा तेरा ही, पीड़ा का राज्य अँधेरा;
(नीहार, पृ० १८)

इस शाश्वत दुःख भावना में समस्त मानव-जाति को एक सूत्र में बाँध देने की क्षमता है। यह दुःख की व्यापकता जब अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जाती है तब एक एक अश्रु बिन्दु से न जाने कितने मरु उर्वर हो उठते हैं। हमारी कवियित्री ने सागर की लहरों, निर्झरों तथा सजल मेघों में अपने ही आँसुओं का आभास पाया है—

मैं नीर भरी दुख की बदली
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली
(सांध्यगीत, पृ० ३६)

अपना हृदय पिघला-पिघला कर तप्त-तप्त विश्व में शीतलता संचार करने वाली बदली के उमड़ कर मिट जाने में भी कितना महत्व है, यह किसी से छिपा नहीं। इस प्रकार महादेवी जी में दुःखवाद के व्यापक रूप का प्रभाव काफी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु हमें इस दुःखवाद और साधारण दुःखवाद में कुछ अन्तर दिखलाई पड़ता है। यह कवि का दुःखवाद है। जिसकी उत्पत्ति उसके अंतःकरण से हुई है। जीवन संघर्ष में ठोकरें खाकर जिनका अपना दुःखवाद जो होता है, उसमें कुछ और ही असह्य व्यथा और नैराश्य की कहानी होती है। उसके साथ इस तरह मिलान नहीं किया जा सकता। फिर भी अपने सुखी जीवन के प्रतिबिम्ब स्वरूप आपने जो दुःखवाद का पल्ला पकड़ा है, वह सराहनीय है।

महादेवी जी की विचार धारा

गीति काव्य का विवेचन करते हुए हम बतला चुके हैं कि महादेवी जी के गीत उनके आत्म-निवेदन हैं। गीत सदा अन्तर्वृत्ति निरूपक होते हैं। क्योंकि उनमें कवि का हृदय पक्ष ही प्रधान होता है, शरीर गौण। और फिर महादेवी जी तो हृदय ही हृदय हैं। अपने स्थूल पार्थिव आवरण को तो उन्होंने तपा तपा कर इतना सूक्ष्म कर डाला है कि वह शून्य की ही भाँति सर्वव्यापक हो गया है। प्रत्येक मानव हृदय उनके हृदय के स्पन्दन के साथ स्पंदित हो उठता है। महादेवी जी के दुःखवाद के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है अब जीवन के अन्य व्यापारों के प्रति उनके भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों का परिचय प्राप्त कर लेना भी समीचीन होगा। यों तो महादेवी जी में वेदना की ही प्रधानता है, फिर भी उन्होंने अपनी विशद अनुभूति और चिन्तन के आधार पर विश्व की समस्याओं की कुछ अपनी भाव तैयार की है, जिसे हम उनके काव्य से किसी प्रकार अलग नहीं कर सकते। इनमें मुख्य ससीम को असीम में लय करने की लालसा, विराग की विडम्बना, उपालंभ, अनुभूति की कामना, रहस्यवादी संकेत, स्वर्ग की भावना, प्रकृति और जीवन का सम्बन्ध तथा मृत्यु मुक्ति और जीवन के प्रति अपना नया दृष्टिकोण है।

मृत्यु की अमरता—जीवन का सबसे बड़ा रहस्य है मृत्यु। इस वैज्ञानिक उन्नति के भी युग में आज तक मृत्यु पहेली ही बनी हुई है, जिसे न कोई आज तक सुलझा सका है और कदाचित न कभी सुलझा ही पाएगा। संसार के बड़े-बड़े मनीषि मृत्यु के विषय में तरह-तरह की बातें कह गए हैं, परन्तु सब के लिए तो वह अनबूझ ही। महाकवि शेक्सपियर ने जूलियस सीज़र के मुँह से मृत्यु के विषय में कहलाया है कि—

Cowards die many times before their deaths
The valiant never taste of death but once.
Of all the wonders that I yet have heard

It seems to me most strange that men should fear, Seeing that death, a necessary end,
Will come when it will come.

सच पूछिए तो हमारी मुक्ति की इच्छा तथा अमरत्व प्राप्त करने की अभिलाषा के पीछे मैं मृत्यु ही झाँक रही है। महादेवी जी ने मृत्यु के विषय में जो विचार व्यक्त किए हैं वे अपने ढंग के बिलकुल अनोखे हैं। उन्हीं को हृदयंगम कर हमारी कवयित्री विनाशपथ पर अपने चरण-चिन्ह अंकित करने में समर्थ हो सकी हैं। विश्व का पंचाग्नि में तपने के कारण उन्हें बड़े से बड़े कष्ट कुसुमों के समान कोमल मालूम पड़ते हैं। महादेवी जी को मृत्यु से सहर्ष आलिंगन करने का चाव है। ... मीरा और सुकरात के जहर के प्याले का याद आ जाना है। शूली के ऊपर पिया की सेज कहने की सार्थकता मालूम पड़ने लगती है। मृत्यु को उन्होंने पूर्णता माना है, इसीलिए अमरत्व का उनके सामने कोई मूल्य नहीं—

अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास

आपको तो किसी के लिए स्वयं को मिटा देने में ही सुख मिलता है। देवत्व के लिए आप नहीं तरसती, मुक्ति की आप कायल नहीं, मृत्युलोक की क्षणभंगुरता ही मुबारक रहे—

क्या देवों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार
रहने दो हे देव अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार
(नीहार, पृ० १२)

कविवर रवीन्द्र ने भी मृत्यु को Thou the last fulfilment of life oh death कहा है। अंगरेजी के एक कवि ने Death is life's [illegible] कह कर उसका महत्व बताया है। इस महत्व फरमाते हैं—

जब से सुना है मरने का नाम ज़िन्दगी है
सर से कफन लपेटे कातिल को ढूंढते हैं।

महादेवी जी ने मृत्यु से बड़ा अपनापन स्थापित कर लिया है, उनके लिए वह हौआ नहीं रह गयी है। एक स्थान पर उन्होंने इसे अतिथि के रूप में सम्मानित किया है, जिसकी अपलक नेत्रों से, सांसों में घड़ियाँ गिन गिन कर वे बाट जोह रही हैं—

प्राणों के अन्तिम पाहुन
तेरी छाया में दिव को हंसता है गर्वीला जग
तू एक अतिथि जिसका पथ हैं देख रहे अगणित दृग
सांसों में घड़ियाँ गिन गिन
प्राणों के अन्तिम पाहुन।

मृत्यु के प्रति इतना स्नेह दृष्टि रखना सबके मन का काम नहीं है, केवल मर मिटने वाले इस सुख को प्राप्त नहीं कर सकते, यह अधिकार तो मिटनेवालों का ही प्राप्त होता है। जो किसी प्रिय की उपासना में शनैः शनैः घुलने को भी हाजिर हैं उन्हीं को 'एक मिटने में भी हस्ती' का सहज हक हासिल है। इसलिए मौलाना साहब ने भी [illegible] बेनिशां पा लिया है—

न पा सकने जिसे पाकर रह कर दैरे हस्ती में
तो हमने बेनिशां होकर तुझे भी बेनिशां पाया।

बात यह है कि मौत तो उन्हीं को मिटा सकती है जो मरने से डरते हैं। जीवन और मृत्यु को एक ही समझने वाले तो स्वयं मौत को मिटा देते हैं। सौन्दर्य और माधुर्य के अमर कवि कीट्स की मृत्यु पर महाकवि शेली ने कहा है कि —

He lives he wakes it is death is dead not he
'कीटस, वह तो जीवित है, स्वयं मृत्यु की ही मौत हो गई है।'

इस प्रकार उन्होंने मिलन की आकांक्षा को ही जीवन का आधार मान लिया है। मौत का नाम सुनते से जो एक प्रकार के भय का सचार होता है, उसे उन्होंने दूर कर दिया है। मौत आखिर है क्या जीवन का अभाव। जिसने इस जीवन का ही आत्मविसर्जन मान लिया है उसे फिर किसका भय? व इस भवसागर से पार होने के लिए किसी जगी जहाजी बेड़े की आवश्यकता नहीं समझता, वह तो आत्म विसर्जन कर देना ही उसकी थाह ले लेना तथा पार पहुँच जाना है—

तरी खोल जाओ मँझधार
डूब कर ही जाओगे पार
विसर्जन ही है कर्णधार
वही पहुँचा देगा उस पार
(नीहार पृ० २६)

उर्दू के एक मशहूर शायर ने भी इसका यों कह कर समर्थन किया है कि —

इशरते कतरा है दरिया में फना हो जाना।

उत्सर्ग की भावना—प्रणय के ही एक मात्र सम्बल लेकर आप जीवन पथ पर चल पड़ी हैं विरह-विदग्धा न जाने कितनी चलते चलते इस मंजिल पर पहुँच चुकी है, पर किसी ने किसी प्रकार की शिकायत व शुजायत हो नहीं की। प्रत्युत प्रिय प्राप्ति की साधना में यह उनका

महादेवी जी की उत्सर्ग भावना में सगुण भक्त-कवियों की आराध्य भावना और तन्मयता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। अपने पार्थिव आवरण को युग-युग भस्म कर वे प्रिय के दर्शन के लिये तरसा करती हैं। केवल दर्शन मात्र में ही उनकी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी वासना जनित मिलन की क्षणिक तृप्ति से उन्हें कोई सरोकार नहीं। देखिये युग-युग की विरहणी नारी उनके अन्दर कितने समुज्ज्वल रूप में बोल रही है —

> मैं मिटूं ज्यों मिट गया घन
> उर मिटे ज्यों तड़ित कम्पन
> फूट कण कण से प्रकट हों
> किन्तु अगणित नयन।
> (नीरजा, पृ० १०४)

याद आती है मध्यकाल की वीर राजपूत-ललनियों के विरह की, जो काग से समस्त शरीर चुनवा लेने पर प्रिय दर्शन निमित्त केवल दो नयन छोड़ उन को निहोरा किया करती थीं—

दो नैना मत खाइयो, पिया मिलन की आस।

कौन कह सकता है कि महादेवी जी ने अपनी सरल अभिव्यंजना द्वारा उस अव्यक्त को हमारे सम्मुख व्यक्त रूप में नहीं ला खड़ा किया। कवियत्री के अनुसार नित्य जलते रहने में ही रहस्य है, बुझना तो नितान्त स्वाभाविक है, उसकी क्या चिन्ता—

जलना ही रहस्य है बुझना है नैसर्गिक बात।

प्रेमी के सब कार्य्य केवल प्रिय को सुख देने अथवा उसे प्रसन्न रखने के लिए ही किये जाते हैं। दीपक अपने ही स्नेह में जल जल कर दूसरों को प्रकाश-दान ही तो देता है, महादेवीजी को भी सूझती है कि क्यों न अपने स्नेह का दीप ज्योतित कर प्रिय के पथ को आलोकित करूं, इसीलिए——

मधुर मधुर मेरे दीपक जल
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।
(नीरजा पृ० ७६)

छायावाद काल के कोमलतम कवि प० सुमित्रानन्दनजी पंत ने इसी साधना-पथ पर अग्रसर होने का प्रयत्न किया है—

तपरे मधुर मधुर मन
विश्व वेदना में तप प्रतिपल
बन अकलुष अनंत औ' उज्ज्वल
गल रे गल निष्ठुर मन
तप रे विधुर विधुर मन।
(गुंजन)

इस साधना मार्ग की भिन्न भिन्न विघ्न बाधाओं तथा कठिनाइयों का चित्रण मां महादेवीजी ने बड़ी सुन्दरता से किया है। संसार की माया में निर्लिप्त रह कर प्रत्येक पल प्रिय के ध्यान में ही मग्न रहना, कह देना तो बड़ा सरल है किन्तु उसे कार्य रूप में परिणत करना दुस्तरतर। बार बार मन दौड़ दौड़ कर विषय वासनाओं की ओर जाता है, यहां पर तो साधना की कसौटी है। इसी दुर्बलता की ओर तो संकेत करते हुए भगवान कृष्ण ने कहा था कि इन्द्रियों की अधोगति होती है, वे बार बार निम्न कमनाओं की ओर आकर्षित होती है, एकाग्रचित हो उन्हें वहां से हटाने, खींच लाने में ही साधना की सफलता है। इसीलिए देवीजी अपने एकान्त में रसलोलुप भोगों की भीड़ को पास तक नहीं फटकने देना चाहती —

लालसा की मदिरा में चूर
क्षणिक भंगुर यौवन पर भूल
साथ लेकर भौंरों की भीर

विलासी हैं उपवन के फूल
बनाओ इसे न लीला भूमि
तपोवन है मेरा एकान्त।
(नीहार, पृ० ६६)

वे विश्व के क्षणिक आकर्षणों से पद पर अपने विरागी हृदय को आसक्ति का पाठ नहीं पढ़ाना चाहती क्योंकि वे जानती हैं कि यह आकर्षण बड़ा प्रबल है, जिसके चक्कर में एक बार पड़कर फिर छुटकारा मिलना असम्भव हो जाता है। इसी लिए —

विजन वन में बिखरा कर राग
जगा सोते प्राणों की प्यास
ढाल कर सौरभ में उन्माद
नशीली फैलाकर निश्वास।
लुभाओ इसे न मुग्ध वसन्त
विरागी है मेरा एकान्त।
(नीहार, पृ० ६६)

इस प्रकार सांसारिक प्रलोभनों से अपने को दूर रखती हुई वे प्रिय की प्रतीक्षा में आँसू बहाए अश्रुहास का अभिनय किया करती हैं—

हृदय पर अङ्कित कर सुकुमार
तुम्हारी अवहेला की चोट
बिछाती हूँ पथ में करुणेश
छलकती आँखें हँसते ओठ।
(नीहार, पृ० ८६)

यद्यपि उनका प्रिय असीम और अज्ञात है पर वे उसका आभास बहुत पहले पा चुकी हैं और तब से उसकी प्रतीक्षा में पथ पर बैठी हुई उन्होंने अपने को इस प्रकार उत्सर्ग कर दिया है कि उनकी चाह में यहा की

जलना ही प्रकाश, उसमें सुख
बुझाना ही तम है, तम में दुख
तुझ में चिर दुख, मुझ में चिर सुख
कैसे होगा प्यार
ओ पागल संसार
(नीरजा ४७)

इस अतृप्ति को कायम रखने के लिए हमारी कवयित्री प्रिय से वरदान भी भी भिक्षा नहीं चाहती, क्यों कि फिर तो उसकी साधना ही समाप्त हो जाएगी और साधना समाप्त होने पर फिर जीवन में रह ही क्या जाएगा ?—

वर देते हो तो कर दो ना
चिर आँख मिचौनी यह अपनी
जीवन में खोज तुम्हारी है मिटना ही तुमको छू पाना।
(नीरजा पृ० १००)

[illegible] मिटने के बाद ही पाना अच्छा है। प्रेम मार्ग का पथिक तो चलते चलते पथ में ही अपने आपको मिटा देना चाहता है। वह चिर प्रतीक्षक जहाँ पर है वहां से बैठा बैठा अपने विरही को नित्य घुल घुल कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनन्त सूक्ष्मता में लय होते देखा करे। प्रेमी अपनी वेदना के मनोहर विपिन में सब भाँति सुख सम्पन्न है। यह प्रेम की वह उच्च दशा है जहाँ प्रिय का ध्यान करते करते ध्यान ही प्रिय बन जाता है। यह चिर अतृप्ति ही सबसे बड़ी तृप्ति है, जो इसे पा गया उसे दुनिया में कुछ और पाना नहीं रह गया—

तुम अमर प्रतीक्षा हो मैं
पग विरह पथिक का धीमा
आते जाते मिट जाऊँ
[illegible] पाऊँ न पंथ की सीमा
(रश्मि पृ० १५)

इस क्षणिक तृप्ति के पाछे दौड़कर सभी अपना महत्व खो देते हैं, बड़ा वह नहीं जो तृप्ति प्राप्त करता है, महान वह है जो अंगारे चुगता है,- जो बधिक के बाण से बिद्ध हो पुण्यजल में गिर कर, आहत और पिपासा से व्यथित होने पर भी चोंच ऊपर को उलटी कर लेता है, जिससे जीवन की अंतिम घड़ियों में भी उसका चिर अतृप्ति का प्रण न टूट जाए। स्वाति का बूँद तो केवल उस सुदूर प्रियतम की मधुर स्मृति का प्रतीक है। महादेवी जी ने अपने लिए तो अतृप्ति का आधार बनाया ही है, पपीहे की पी पी सुनकर भी वे कहने लगती हैं—

रे पपीहे पी कहाँ ?
हँस डुबा देगा युगों की प्यास का संसार भर तू
कण्ठगत लघुबिन्दु कर तू
प्यास ही जीवन, सकूँगी
तृप्ति में मैं जी कहाँ
रे पपीहे पी कहाँ

(सान्ध्यगीत पृ० ८१)

प्रेमी के जीवन की यह भी एक बड़ी साधना है कि वह अपनी व्यथा और विह्वलता को प्रिय के कानों तक न पहुँचने दे, जिससे प्रिय को किसी प्रकार का कष्ट न हो। रात दिन प्रिय का नाम ले ले कर शोर मचाने से कुछ नहीं होता, उसे हृदय में बाँधकर बसाने की आवश्यकता है। देखते नहीं पतिंगा अपने उन्माद के आवेश में जल भुन कर क्षार हो जाता है किन्तु दीपक से किसी प्रकार का शिकवा नहीं करता, बेचारी मीन प्रेम वियोग में तड़प तड़प कर प्राण विसर्जन कर देती है, किन्तु जल की निठुरता की शिकायत किसी से नहीं करती। चकोर स्वयं अंगार चुन लेगा परन्तु अपने प्रिय पर किसी प्रकार की आँच वह नहीं आने देना चाहता, इस अतृप्ति की तह में यही महत्व यही आदर्श निहित है। तभी तो [illegible]
सिखावन है कि—

अब सीख लो मौन का मन्त्र नया
यह पी पी घनों को सुहाता नहीं,

(रश्मि पृ० २३)

मुक्ति की अनिच्छा — महादेवी जी ने नीहार से लेकर सांध्यगीत तक मुक्ति के प्रति उपेक्षा ही प्रकट की है। उस अव्यक्त के चरणों में सर्वस्व न्यौछावर कर चुकने पर उन्हें अब अपने पर अधिकार ही न रहा, फिर भला वे किस मुँह से वरदान की भीख माँगें। प्रेमी का धन तो उसका विरह-वेदना, ज्वाला और आँसू ही होते हैं, उसे मुक्ति और अमरत्व के प्रलोभनों में पड़ने की आवश्यकता ही क्या?

देव अब वरदान कैसा?
जन्म से यह साथ है मैंने इन्हीं का प्यार जाना
मित्र ही समझा दृगों के अश्रु को पानी न माना
इन्द्रधनु से नित सजी सी
विद्यु हीरक से जड़ी सी
मैं भरी बदली रहूँ
चिर-मुक्ति का सम्मान कैसा?

(सांध्यगीत पृ० ५८)

महादेवी जी ने मुक्ति को भी एक बन्धन माना है, क्योंकि वह भी तो एक इच्छा ही है। उनकी दृष्टि में मुक्ति के पीछे फिरना भी आत्मा की विशालता को संकुचित दायरे में सीमित करना है। महात्मा मंसूर भी मुक्ति को त्याज्य मानते थे, उनका कहना था कि माया और मुक्ति की इच्छा दोनों मनुष्य को वासनाओं के बन्धन में जकड़ रखते हैं, जो मनुष्य इन एक पैर इस माया के संसार से उठावे और दूसरा मुक्ति के आसन पर, बस उसे उस सत्, चित् आनन्दमय स्वरूप की प्राप्ति हो जायगी। यही अनलहक, सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि आदि का मूलतत्व है। इसी कामनाहीन तन्मयता पर प्रियतम अपने भक्त पर भी मुक्ति और निर्वाण निछावर कर देता है,

करुणामय तब समझोगे
इन प्राणों का सूनापन,
(नीहार पृ० ३१)

आज मेरी दशा पर हँस सकते हो, परन्तु इतनी बड़ी व्यथा का भार सह सकने का तुम में हिम्मत है ? यह ऐसी वैसी पीड़ा नहीं जिसे जो चाहे सो पाल सके—

मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा
उनके प्राणों से पूछो
क्या पाल सकेंगे पीड़ा
(नीहार पृ० ३२)

इतना ही नहीं उन्होंने कुछ और बड़ी मीठी चुटकियां ली हैं। उनका कहना है कि मैं अपने को तुम से किसी बात में कम नहीं समझती हूं। यदि तुम महान हो तो मैं भी लघु हूं, यदि तुम में सागर के समान अथाह करुणा है तो मुझ में भी असीम सूनापन है, जिसका कहीं अन्त ही नहीं, तुममें जितनी पूर्णता है मुझ में उतना ही अभाव है। फिर किस बात की शान दिखाया करते हो—

उनसे कैसे छोटा है
मेरा यह भिक्षुक जीवन
उनमें अनन्त करुणा है
इसमें असीम सूनापन
(नीहार पृष्ठ ३२)

कितनी भोली ठसक है। यह पैमाने का अन्तर में बड़ा अधिकार है। महादेवी जी तुलसी और सूर की भाँति याचना अपने दैन्य और कृपा का

उत्था पतन, सुख-दुःख आदि विरोधी कणों द्वारा निर्मित है। इसी कारण विश्व हृदय की भावनाओं के प्रतिनिधि कवि को इन द्वंद्वों में से किसी एक का अभाव होने पर समस्त विश्व विशृंखल और सूना मालूम पड़ने लगता है।

इन मिलन-विरह की शिशुओं के बिन
जग का विस्तृत आँगन सूना
(नीरजा, पृ० ६३)

पन्तजी को भी अविरत सुख और अविरत दुःख दोनों उत्पीड़न मालूम पड़ते हैं, वे सुख दुःख का पूर्ण सामञ्जस्य चाहते हैं। मानव जीवन में दोनों के बराबर बराबर बाँट देने के पक्षपाती हैं। इतना ही नहीं प्रकृति में भी इसी स्वरूप को देखने के वे उत्सुक हैं

सुख दुःख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन
फिर घन में ओझल हो शशि
फिर शशि से ओझल हो घन
(गुंजन)

नीरजा का पहिला ही गीत इस सामञ्जस्य की प्रधानता लेकर आ उपस्थित हुआ है। इस करुणा-मूर्ति नारी के नयनों से जो युग-युग से अधीर अश्रुनीर प्रवाहित है उसमें भी केवल दुःख ही दुःख नहीं सुख के आँसुओं का भी सम्मिश्रण है।

प्रिय इन नयनों का अश्रुनीर
दुःख से आविल
सुख से पंकिल
बहता है युग युग से अधीर
(नीरजा पृ० १)

अपने जीवन में इन विरोधी भावों की स्थिति पाकर कवयित्री कुछ कुछ कौतूहल पूर्ण भी हो उठती है। अजीब बात है, जहाँ मिलन वहीं विरह, जहाँ आह वहाँ गान, जहाँ जीवन वहीं मृत्यु। कैसी विचित्र पहेली है, वह सोचती है मेरा जीवन स्वयं मेरे लिए ही कितना अनबूझ है।

> प्रिय मैं हूँ एक पहेली भी
> जितना मधु, जितना मधुर हास
> जितना मद तेरी चितवन में
> जितना क्रंदन जितना विषाद
> जितना विष जग के स्पंदन में
> पी पी मैं चिर दुःख प्यास बनी
> सुख सरिता की रँगरेली भी
>
> (नीरजा पृ० ७८)

इसी पहेली में शाश्वत विरहिणी का व्यापक चित्र भी है, जिसके नाना रूप, उद्भव और पालन करते हुए बंदी और बन्दिका के रूप में हमारे सन्मुख अवतरित होते हैं। वह ससीम भी है, असीम भी है, उसी में विरक्ति है और उसी में आसक्ति भी। वह है उसका परम छन्द में साकार स्वप्न, जिसके लिए कहा गया है।

> मेरे प्रति रोमों से अविरत
> झरते हैं निर्झर और आग
> करती विरक्ति आसक्ति प्यार
> मेरे श्वासों में जाग जाग
> प्रिय मैं सीमा की गोद पली
> पर हूँ असीम से खेली भी
>
> (नीरजा पृ० ७१)

फिर यह सुख भी तो नित्य नहीं है, जीवन-पथ के ये शूल-फूल इनमें सार ही क्या ! साधक के लिए काँटों का ताज और फूलों का सेहरा समान है। सरमद के लिए शूली ही पिया की सेज बन गई थी। किसी के हृदय का हार बनने के लिए पहले अपने हृदय को बिंधवाने की आवश्यकता पड़ती है। यह प्रेम-मार्ग कुछ बच्चों का खेल तो है नहीं, यहां तो कवि बोधा के शब्दों में—

> यह प्रेम को पंथ कठोर महा
> तरवार की धार पै धावनो है,

फिर भला तलवार की धार पर दौड़ने वाले को सुख दुख के शूलों का क्या भय ! वह तो जानता है कि—

> मृदु पाटल सा जीवन को
> नित कांटों में दुलराना
> फिर हार बनेगा पहले
> सीखे तो उर बिंधवाना

इसका यह अर्थ नहीं कि केवल दुख सहना ही जीवन के विकास के लिए आवश्यक है। देवी जी ने सुख का भी उतना ही महत्व दिखलाय है। जहाँ उन्हें काँटों की शैया पसंद है वहां पतझर को मधुवन रूप में देखने को भी लालायित हैं। सुख और दुख के सामंजस्य का जितना सुन्दर चित्र महादेवी की लेखनी से प्रसूत हुआ है उतना कदाचित आज तक किसी कलाकार की लेखनी से संभव नहीं हो सका—

> यह पतझर मधुवन भी हो
> शूलों का दंशन भी हो
> कलियों का चुम्बन भी हो
> जब अलि-कुल का क्रंदन हो
> पिक का कल कूजन भी हो

(नीरजा पृ० ८५)

यही इस विश्व का असली स्वरूप है। जो इस मर्म को पहचान गया उसे दुःखों की विभीषिका से घबरा कर गुफाओं और कदराओं में अपने प्रिय की खोज करनी नहीं पड़ता।

> जिसको पथ-शूलों का भय हो
> वह खोजे नित निर्जन गह्वर
> प्रिय संदेशों के वाहक
> मैं सुख दुःख भेटूंगी भुज भर
> (सांध्यगीत पृ० ७७)

इस प्रकार महादेवी जी ने अपने विकास पथ पर सुख और दुःख से सामंजस्य स्थापित करने में ही सफलता नहीं प्राप्त की, साथ ही साथ हमारे सम्मुख महान मानवता का आदर्श उपस्थित कर दिया है, जिसमें सुख दुःख से घबड़ाने के स्थान पर उसमें साहसपूर्ण आलिंगन कर भी प्रबल इच्छा जाग्रत हो उठती है। यह मनुष्य जीवन की सफलता की कुंजी है।

विश्व की मंगल कामना—साहित्य और जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, इसलिये उसमें जीवन के प्रति शुभ संदेश होते हैं। कवि पुंगवों की वाणी तभी सार्थक मानी जाती है, जब उनकी भावनाओं में विश्व की मंगल-कामना अन्तर्निहित होती है। कलाकार को अपने जीवन का बलिदान देकर संसार में सरसता और शीतलता का प्रसार करना पड़ता है। रहस्यवादी कवियों में विशेष कर इस उच्च भावना के दर्शन होते हैं, महादेवी जी में तो यह पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। उन्होंने ग्रास को अपने को मोममय दुख धुला कर गीतों के रूप में बिखेर दिया है वह किसके लिये ? उनके दुःखी होने, वेदना और विरह ताप में तपने तथा तिल तिल कर मिटने में क्या रहस्य है ! यही तो कि वे अपने जीवन की भस्म से ये इस विश्व को अधिक उर्वर अधिक तरल बना सकें, उसमें अपने अश्रुओं का अर्घ्य देकर। तनिक उनके हृदय की उदारता पर ध्यान दीजिए—

उत्थान पतन, सुख-दुख आदि विरोधी कणों द्वारा निर्मित है। इसी कारण विश्व हृदय की भावनाओं के प्रतिनिधि कवि को इन द्वंद्वों में से किसी एक का अभाव होने पर समस्त विश्व विश्रृंखल और सूना मालूम पड़ने लगता है।

> इन मिलन-विरह की शिशुओं के बिन
> जग का विस्तृत आँगन सूना
> (नीरजा, पृ० ६३)

पन्तजी को भी अविरत सुख और अविरत दुःख दोनों उत्पीड़न मालूम पड़ते हैं, वे सुख दुःख का पूर्ण सामञ्जस्य चाहते हैं। मानव जीवन में दोनों के बराबर बराबर बाँट देने के पक्षपाती हैं। इतना ही नहीं प्रकृति में भी इसी स्वरूप को देखने के वे उत्सुक हैं

> सुख दुख के मधुर मिलन से
> यह जीवन हो परिपूरन
> फिर घन में ओझल हो शशि
> फिर शशि से ओझल हो घन
> (गुंजन)

नीरजा का पहिला ही गीत इस सामञ्जस्य की प्रधानता लेकर आ उपस्थित हुआ है। इस करुणा-मूर्ति नारी के नयनों से जो युग-युग से अधीर अश्रुनीर प्रवाहित है उसमें भी केवल दुःख ही दुख नहीं सुख के आँसुओं का भी सम्मिश्रण है।

> प्रिय इन नयनों का अश्रुनीर
> दुःख से आविल
> सुख से पंकिल
> बहता है युग युग से अधीर
> (नीरजा पृ० १)

अपने जीवन में इन विरोधी भावों की स्थिति पाकर कवियित्री कुछ कुछ कौतूहल पूर्ण भी हो उठती है। अजीब बात है, जहाँ मिलन वहां विरह, जहाँ चाह वहीं गान, जहाँ जीवन वहीं मृत्यु। कैसी विचित्र पहेली है, वह सोचती है मेरा जीवन स्वयं मेरे लिए ही कितना अनबूझ है।

प्रिय मैं हूँ एक पहेली भी
जितना मधु, जितना मधुर हास
जितना मद तेरी चितवन में
जितना क्रंदन जितना विषाद
जितना विष युग के स्पदन में
पी पी मैं चिर दुःख प्यास बनी
सुख सरिता की रँगरेली भी

(नीरजा पृ० ७८)

इसी पहेली में शाश्वत विरहिणी का व्यापक चित्र भी है, जिसके नाना रूप लय, उद्भव और पालन करते हुए चंडी और अम्बिका के रूप में हमारे सम्मुख अवतरित होते हैं। वह ससीम भी है, असीम भी है, उसी में विरक्ति है और उसी में आसक्ति भी। वह है उसका परम साम्य में तदाकार स्वरूप, जिसके लिए कहा गया है।

मेरे प्रति रोमों से अविरत
झरते हैं निर्झर और आग
करतीं विरक्ति आसक्ति प्यार
मेरे श्वासों में जाग जाग
प्रिय मैं सीमा की गोद पली
पर' हूँ असीम से खेली भी

(नीरजा पृ० ७१)

फिर यह सुख भी तो नित्य नहीं है, जीवन-पथ के ये शूल-फूल इनमें सार ही क्या ? साधक के लिए काँटों का ताज और फूलों का सेहरा समान है। सरमद के लिए शूली ही पिया की सेज बन गई थी। किसी के हृदय का हार बनने के लिए पहले अपने हृदय को बिंधवाने की आवश्यकता पड़ती है। यह प्रेम-मार्ग कुछ बच्चों का खेल तो है नहीं, यहां तो कवि बोधा के शब्दों में—

> यह प्रेम को पंथ कठोर महा
> तरवार की धार पै धावनो है,

फिर भला तलवार की धार पर दौड़ने वाले को सुख दुख के शूलों का क्या भय ? वह तो जानता है कि—

> मृदु पाटल सा जीवन को
> नित काँटों में दुलराना
> फिर हार बनेगा पहले
> सीखे तो उर बिंधवाना

इसका यह अर्थ नहीं कि केवल दुख सहना ही जीवन के विकास के लिए आवश्यक है। देवी जी ने सुख का भी उतना ही महत्व दिखलाय है। जहाँ उन्हें काँटों की शैया पसंद है वहां पतझर को मधुवन रूप में देखने को भी लालायित हैं। सुख और दुख के सामंजस्य का जितना सुन्दर चित्र महादेवी की लेखनी से प्रस्तुत हुआ है उतना कदाचित आज तक किसी कलाकार की लेखनी से संभव नहीं हो सका—

> यह पतझर मधुवन भी हो
> शूलों का दंशन भी हो
> कलियों का चुम्बन भी हो
> जब अलि-कुल का क्रंदन हो
> पिक का कल कूजन भी हो

(नीरजा पृ० ८४)

...... । वह सकती रहता है। जो इस मार्ग के पथिक बना उसे शूलों की विभीषिका से घबड़ा कर गुफाओं और कन्दराओं में उसके लिए खोज करनी नहीं पड़ती।

जिसको पथ-शूलों का भय हो
वह खोजे नित निर्जन गह्वर
प्रिय संदेशों के वाहक
मैं सुख दुःख भेटूंगी भुज भर
(सांध्यगीत पृ० ७१)

मुसकरा कर राग मधुमय
वह लुटाता पी तिमिर विष
आँसुओं का क्षार पी मैं
बाँटती नित स्नेह का रस
सुभग मैं उतनी मधुर हूँ मधुर जितना प्रात।
(सांध्यगीत, पृ० ४८)

और भी—
ताप जर्जर विश्व उर पर
तूल से घन छा गए भर
दुःख से तप हो मृदुल तर
उमड़ता करुणा भरा उर
सजनि मैं उतनी सजल जितनी सजल बरसात
(सांध्यगीत, पृ० ४८)

कवि की इसी करुणा और तरलता में इस विशाल विश्व की मंगल कामना निहित है, जैसे सिद्धार्थ की करुणा में अखिल विश्व जीवों का कल्याण। कवि के प्रत्येक शूल से मधु के युग निसृत होने की स्वर्णाशा सदा से संसार करता आया है।

जब मेरे शूलों पर शत शत
मधु के युग होंगे अवलम्बित
मेरे क्रंदन से आतप के दिन सावन हरियाले होंगे।
(सांध्यगीत, पृ० ६६)

प्रकृति और जीवन का सामञ्जस्य—जहाँ तक प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण का सम्बन्ध है, संस्कृत कवियों की इस रंगीन कला के दर्शन महादेवी जी में नहीं के बराबर होते हैं। पन्त और निराला की भाँति

उन्होंने यहाँ भी प्रकृति की सुषमा का स्वतन्त्र चित्रण करने का प्रयोग नहीं किया। कारण, उन्होंने प्रकृति ही क्या विश्व के सभी व्यापारों का इस प्रकार आत्मसात कर लिया है कि उनको अपने से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं मालूम होता। उनकी अश्रुधारा और सजल बरसात में कोई अन्तर नहीं रह गया है। उनका माधुर्य प्रभात की गुलाबी आभा में घुलमिल गया है। प्रकृति उनकी अपनी अन्तरंग सहेली है, वह उनके दुःख में रोती और सुख में हँसती है। प्रकृति का स्वच्छन्द अल्हड़पन देखकर वे उससे निहोरा करने लगती हैं कि मुझे भी तू अपनी ही उमंग में शामिल करले—

> मुझ में विक्षिप्त झकोरे
> उन्माद मिलादो अपना
> हाँ नाच उठे जिसको छू
> मेरा नन्हा सा सपना
>
> (नीहार पृ० ४६)

उनका और उनके प्रिय दोनों की आँख मिचौनी के चित्र भी प्रकृति के विशाल चित्र-पटल पर देखने को मिल जाते हैं—

> मैं फूलों में रोती वे
> बालारुण में मुसकाते
>
> (नीहार पृ० ७७)

महादेवी जी ने अपनी विदग्धता से सशक्त लेखनी द्वारा इतने विशद रूप में व्यक्त किया है कि उनका एक एक चित्र सजीव सा मालूम होता है। जैसे प्रकृति हमें अपनी मनमोहकता से लुभाती ही नहीं वरन हमारे साथ अठखेलियाँ भी कर रहा है। जड़ पदार्थों में इस प्रकार जीवन डाल देना हम तो कला की सर्वोच्च पहुंच समझते हैं। महादेवी जी के प्रकृति-वर्णनों को पढ़ते समय हम यह सब या भूल जाते हैं कि उनका हमारा जड़ और चेतन का

सम्बन्ध है। वर्ड्सवर्थ के प्रकृति चित्रणों की भांति यह भी हमारे साथ अपने हृदय का योग देती हुई उपस्थित होती है। जरा लजीली उषा की एक आध चुटकियाँ तो पढ़िए—

घूंघट पट से झांक सुनाते
उषा के आरक्त कपोल
जिसकी चाह तुम्हें है हमने
छिड़की मुख पर लाली घोल
(नीहार पृ० १०६)

महादेवी जी ने प्रकृति में भी विनाश के साथ-साथ निर्माण का ही चित्र खींचा है। जिस प्रकार पंत जी पतझड़ के पत्तों के गिरने के साथ नवयुग के वसन्त के आगमन का आभास पाते हैं उसी प्रकार देवी जी ने भी प्रकृति के विनाश क्रम में नव-जीवन के चिह्न स्पष्ट देखे हैं—

अमर सुरभित साँस देकर
मिट गये कोमल कुसुम झर
रविकरों में जल हुए फिर
जलद में साकार सीकर
अंक में नव नाश में लेने
अनंत विकास आया।
(सांध्यगीत पृ० १०)

कहीं कहीं महादेवी जी में शुद्ध प्रकृति-चित्रण भी देखने को मिल जाते हैं किन्तु उनमें भी उनका हृदय पद्म झांकता दिखाई देता है—

कोकिल गा न ऐसा राग
झूमा एक ओर रसाल
काँपा एक ओर बबूल

फूटा घन अनल के फूल।
किंशुक का नया अनुराग
कोकिल गा न ऐसा राग
(सांध्य गीत, पृ० ७६)

चित्रकला में सिद्ध हस्त होने के साथ साथ महादेवी जी के शब्दों में भी एक जीवन रागिनी है, जिसके द्वारा उनके एक न एक चित्र हमारी आँखों के सामने मूर्तिमान हो जाते हैं—

रूपसि तेरा घन केशपाश
सौरभ भीना झीना गीला
लिपटा मृदु अंजन सा दुकूल
चल अंचल से झर-झर झरते
पथ में जुगनू के स्वर्ण फूल
(नीरजा, पृ० २३)

स्थान स्थान पर इन चित्रों में संगीत का भी समावेश मिलता है। उनके प्रकृति के मादक स्वरूप के चित्रण में मदभरी झनकार चितवन वाली हंसकामिनी के पगपायलों की रुनझुन भी हमें सुनाई पड़ जाती है। ऐसे दृश्य कवि के सूक्ष्मनिरीक्षण की अलौकिक प्रतिभा को व्यक्त करते हैं। इन वर्णनों के लिए यही कहा जा सकता है कि भावनाओं की यह सुकुमारता नारी हृदय की स्वाभाविक कोमलता की ही करामात है, पुरुषों के लिए इतनी बारीकी यदि असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। संध्या की मनमोहक सुषमा का चित्र यदि ध्वनि और सुकुमारता के संयोग में देखना हो तो उनके और साँझ की मनुहार भरी अदाओं को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है—

नव इन्द्रधनुष सा चीर
महावर अंजन ले

अलिगुंजिक मीलित पंकज
नूपुर रुनझुन ले
फिर आई मनाने सांझ
मैं बेसुध मानी नहीं
मैं प्रिय पहचानी नही
(नीरजा, पृ० ३४)

प्रकृति के कुछ उपादान तो महादेवीजी को बहुत ही प्यारे होगए हैं, उनको आपने अपने सुख दुख का साथी बना लिया है- जैसे सजल बादल। ऐसा मालूम पड़ता है कि सावन में सजल मेघों को इधर उधर रिमझिम-रिमझिम करते देख कर हमारी कवियत्री के हृदय की तरलता भी बरस पड़ती है, बिखर जाती है और उसी तन्मयता में वह अपने को प्रकृति के स्वरूप में लय कर देना चाहती है—

लाए कौन सँदेश नए घन
सुख दुख से भर
आया लघु उर

मोती से उजले जल-कण से छाए मेरे विस्मित लोचन
गेया चातक
सकुचाया पिक
मत्त मयूरी ने सूने में झाड़ियों का दुहराया नर्तन
लाए कौन सँदेश नए घन
(नीरजा, पृ० ६२)

[1] संभवत: प्रकृति और जीवन को एक दूसरे में इतना घुला मिला देने पर ही कविशिरोमणि कालीदास को मेघदूत लिखने की प्रेरणा हुई होगी। इतना ही नहीं महादेवीजी के वेदना प्रकृति का संबंध पा कर आज इतनी

सर्वव्यापक होगई है कि प्रकृति के कण-कण में उसी का प्रसार-प्रतिभासित होरहा है। उनके आँसू से भरी आँखों और नीरभरी बदली में कितनी समानता है—

> मैं नीर भरी दुख की बदली
> वि तृत नम का कोई कोना
> मेरा न कभी अपना होना
> परिचय इतना इतिहास यही
> उमड़ी कल थी मिट आज चली
>
> (सांध्य गीत, पृ० ३८)

इस प्रकार प्रकृति और जीवन में सामंजस्य स्थापित करने की भावना कवि के विशद उदार हृदय की द्योतक है।

शाश्वत खोज की लगन—मानव स्वभाव से ही अन्वेषी होता है। उसके सारे प्रयत्न अपनी अपूर्णता को पूर्ण बनाने के ही निमित्त होते हैं। संसार की महान आत्माओं के सुख्य, उन्नत एवं सतत अन्वेषण रत रहने का यही रहस्य है। महादेवीजी अपने जीवन दीपक का स्नेह जला जला कर उस महा प्रकाश में लय कर देने के लिए व्याकुल हैं। वह विश्व अब तक उनके विस्मय का ही विषय बना हुआ है। जिसकी सीमाएँ देखने में तो अवश्य मालूम पड़ती हैं पर जितर ही बढ़ते जाओ उनका कहीं अंत नहीं है। इसी कारण वो वे उन्मुक्त मधुमण्डल में विचरण करने के लिए छटपटाया करती हैं। इन सीमाओं के बंधन उनका गला सा घोंट रहे हैं अतएव—

> फिर विकल हैं प्राण मेरे
> तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देखलूँ उस ओर क्या है
> जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है

क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे ?
फिर विकल हैं प्राण मेरे ?

इतना ही नहीं जिन दृश्यों को हम नित्य देखते हैं, उनका भी विस्मय ज्यों का त्यों बना हुआ है—

सिन्धु की निस्सीमता पर लघु लहर का लास कैसा ?
दीप लघु सिर पर धरे आलोक का आकाश कैसा ?
दे रही मेरी चिरन्तनता क्षणों के साथ फेरे
फिर विकल हैं प्राण मेरे ।
(सांध्य गीत, पृ० ४७)

फिर भी असीम कितना ही महान क्यों न हो, लघुता का भी अपना अस्तित्व है ही। महान लघु पर कभी अपने को हावी नहीं कर सका। दोनों का आविर्भाव अपनी अपनी सीमा में ज्यों का त्यों बना हुआ है।

नभ डुबा पाया न अपनी बाढ़ में भी क्षुद्र तारे
ढूंढने करुणा मृदुल घन चीर कर तूफान हारे
अंत के तम मे बुझे क्यों
आदि के अरमान मेरे
(सांध्य गीत, पृ० ४७)

कबीर की राम की दुलहिया को जिस प्रकार प्रियतम से मिलने के लिए तरह तरह के सजीव शृंगार करने पड़ते हैं, उसी प्रकार महादेवी जी की उपासिका भी अपने प्रिय को रिझा कर अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तरह तरह के शृंगार करने में व्यस्त हैं, फिर भी उसका रूठा रहना आश्चर्य का ही विषय है।

'क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?
शशि के दर्पण में देख देख
मैंने सुलझाए तिमिर केश
गूँथे चुन तारक पारिजात
अवगुंठन कर किरणें अशेष
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृंगार नहीं ?
(सांध्य गीत, पृ० ११)

तो क्या इतना सजाव शृंगार, इतनी प्रतीक्षा, इतनी मनुहार सब व्यर्थ हो गई ? कोई बात नहीं इन सब बातों से साधना में कोई अंतर नहीं आना चाहिए। प्रिय रूठा है, रूठा रहे, प्रेमी का तो यही धर्म है कि उसकी प्रतीक्षा में पथ पर किसी प्रकार विघ्न न उत्पन्न करे। इसी कारण उसने अपने ही समान दूसरे उपासकों को शांत रहने का आदेश किया है, जिससे विकल आह कराह सुनकर मचल न उठे, शांति-पूर्वक आ सके। कितनी भावना है और साथ ही कितनी महान—

मैं आज चुपा आई चातक
मैं आज सुला आई कोकिल
कण्टकित मौलश्री हरसिंगार
रोके हैं अपने श्वास शिथिल
सोया समीर नीरव जग पर
स्मृतियों का भी मृदु भार नहीं
क्यों वह प्रिय आता पार नहीं

(सांध्य गीत, पृ० ११)

इस स्थिर चिन्तन को स्पष्ट करने के लिए हृदय को तो स्पन्दन करना होगा। सब [illegible] साधना के पथ पर अग्रसर होने को [illegible] [illegible]

हुआ नीचे खिसक पड़ेगा तब कहीं जाकर उनका ध्यान इस ओर आकर्षित होगा। उन नूपरों में इतनी शक्ति समाहित करने की आवश्यकता है कि—

नूपरों का मूक छूना
सरव करदे विश्व सूना
यह अगम आकाश उतरे
कंचनों का हो भिखारी
(साध्य गीत, पृ० १५)

हृदय सीमा के इतने विस्तीर्ण हो जाने की आवश्यकता है कि उसका संगीत अनहद नाद की लय में परिणत हो जाए, हृदय की झंकार और विश्व-वीणा का झंकार में कोई अन्तर न रह जाए। सुख और दुःख समान हो जाएँ। प्रिय के माधुर्य के कारण घृणित से घृणित वस्तु भी प्यारी लग उठे, चारों ओर सौंदर्य और मंगल के ही दर्शन हों—

विरह का युग आज दीखा
मिलन के लघु पल सरीखा
सुख दुःख में कौन तीखा
मैं न जानी औ' न सीखा
मधुर मुझको होगया सब, मधुर प्रिय की भावना ले
(सांध्य गीत, पृ० ३१)

रहस्यवाद की धारा—वर्तमान छायावाद युग के कवियों में किसी को यथार्थ रूप में रहस्यवादी कहा जा सकता है तो सुश्री महादेवी जी वर्मा को ही। प्रसाद और पन्त में भी हमें रहस्यवादी विचार काफी मिलते हैं किन्तु न तो उनमें न तो इसका विकास कम ही दृष्टिगोचर होता है और न इन विचारों ही स्थिरता ही। पन्तजी तो प्रत्यक्ष रूप से जगत और जीवन की ओर अधिक झुकते आ रहे हैं। महादेवी जी ने आदि

अन्त तक अपने समस्त काव्य-जीवन में रहस्यवाद का ही सहारा लिया है। यद्यपि छायावाद का यह प्रवाह हिन्दी में बंगाली भाषा के प्रभाव स्वरूप फैला और इसके भी पहले सूफियों का प्रेम-भाव मीरा के समय से ही जमा बैठा था, परन्तु महादेवी जी का रहस्यवाद शुद्ध और भारतीय है और उपनिषदों का सार-स्वरूप है। इस नूतन पथ पर वे आज कल के नवसिखिया कवि की भांति कौतूहल वश ही नहीं चल पड़ी वरन उनमें बचपन से ही इस ओर स्वभाविक आकर्षण था। हृदय में इस असीम और अनन्त को जानने का औत्सुक्य था, एक समस्या थी, जिसको सुलझाने सुलझाते वे स्वयं को ही उलझा बैठीं। उनका अलकरण क्वासि क्वासि की पुकार किया करता था। इस जगत की सृष्टि करने वाले के स्वरूप को पहचानने की उनकी बड़ी इच्छा थी। जो इस शरीर रूपी मिट्टी के दीपक में स्नेह डाल कर उसे प्रज्वलित रखता है, आखिर वह कौन है? कहाँ है? यही प्रारम्भिक प्रश्न थे जिन्होंने हमारी कवयित्री के हृदय में भावनाएँ जाग्रत कीं—

किन उपकरणों का दीपक, जलता है किसका तैल
किसकी वर्ति कौन करता है, उसका ज्वाला से मेल
(रश्मि पृ० १७)

उसमें भी विचित्र बात उन्हें यह मालूम पड़ी कि जब उस महान कौतुकी ने केवल अपनी क्रीडा के लिए इन मिट्टी के पुतलों को सँवारा तो फिर आज क्या अपरिचित सा उनका परिचय पूछा करता है—

धूलि के कण में उन्हें वही बना अभिराम
पूछते हो अब अपरिचित से उन्हीं का नाम
(रश्मि, पृ० ३८)

महादेवी जी के रहस्यवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सर्वथा हमें अपना मालूम होता है। हम उसके साथ हँसते हैं, रोते हैं और उसे अपने में समा लेने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। कारण उसमें तनिक भी अस्वाभाविकता

गहा है। देवीजी ने कभी रहस्यवादी बनने की कोशिश नहीं की, उन्हें तो जिस रूप में जो जो कुछ दिखलाई पड़ा, एक सरल बालिका की भाँति अपने कौतूहल की शांति के लिए प्रश्न करती गईं और उसके समाधान की खोज करती रहीं। एक स्त्री स्वभावतः जिस प्रकार अपने प्रिय पर एकाधिपत्य पाने की इच्छा किया करती है उसी प्रकार महादेवीजी भी उस असीम अनंत को अपनी स्नेह रज्जु में बाँध रखने को उतावली हैं। यदि जाग्रत में यह संभव न हो सके तो कोई बात नहीं, स्मृति, सुषुप्ति, स्वप्न किसी भी अवस्था में उसके सहवास के लिए लालायित हैं—

तुम्हें बाँध पाती अपने में
तो चिर जीवन प्यास बुझा लेती छोटे से क्षण अपने में।

(नीरजा, पृ० ७)

कभी कभी अपने अंतःकरण में किसी का आभास पाकर वे अचानक प्रश्न कर उठती हैं कि—

कौन तुम मेरे हृदय में
कौन बंदी कर मुझे
अब बंध गया अपनी विजय में

(नीरजा, पृ० १४)

जो हमारे मानस में ही विराजमान है उसके लिए गला फाड़ फाड़ कर चिल्लाने की क्या आवश्यकता है? इसीलिए तो वे पिक की हूक पैदा करने वाली कूक सुन कर उसे भी चुपके चुपके बोलने का संकेत करती है, जिससे हृदय की धड़कन धड़कन के साथ साथ उसके पद चाप की आहट भी सुनाई दे सके अन्यथा जाग्रति में तो वह लौट जाता है, वह तो मदहोशी में ही पास आता है—

वह सपना बन बन आता, जागृति में जाता लौट
मेरे श्रवण आज बैठे हैं, इन पलकों की ओट
व्यर्थ मत कानों में मधु घोल
हठीले हौले हौले बोल।

(नीरजा, पृ० ३३)

उन्होंने अपने प्रिय को सृष्टि के कण-कण में ढूंढा है और जब संसार चिर-निद्रा में अपना सब कुछ भूल गया था, तब भी वह जागता हुआ चेतन सत्ता में व्यक्त पाया गया है —

'सो रहा है विश्व पर प्रिय तारकों में जागता है।

(सांध्यगीत, पृ० ३४)

किस प्रकार मानव हृदय की वेदना अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से निकल कर व्यापक रूप धारण कर लेती है और किस प्रकार हम कभी कभी इस जड़ जगत से ऊब कर किसी नक्षत्र के टिमटिमाने अथवा सरिता के कल कल नाद में ही अपना सुख खोजने का प्रयत्न करने लगते हैं, यह महादेवी जी की पंक्ति पंक्ति से प्रकट होता है। विद्वद्वर रायकृष्णदास जी ने 'नीरजा' की भूमिका में लिखा है कि "श्रीमती वर्मा हिन्दी कविता के इस वर्तमान युग की वेदनाप्रधान कवयित्री हैं, उनकी काव्य वेदना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय निवेदन है। कवि की आत्मा मानों इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भांति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। उसकी दृष्टि से, विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर सुन्दर की छाया मात्र है। इस प्रतिबिम्ब जगत को देख कर कवि का हृदय उसके सलोने बिम्ब के लिए ललक उठा है। मीराने जिस प्रकार उस परम पुरुष की उपासना सगुण रूप में की थी, उसी प्रकार महादेवी जी ने अपनी भावनाओं में उसकी आराधना निर्गुण रूप में की है। उसी एक का स्मरण चिंतन एवं उसके तादात्म्य होने की उत्कण्ठा, महादेवी जी की कविताओं के उपादान हैं।" तभी तो आज उनके कानों में अनहदनाद की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है,

सुन रही हूं एक ही झंकार
जीवन में, प्रलय में

(नीरजा, पृ० १५)

इतना जान लेने पर भी जब लोग उसको खोजने के लिए बाह्य संसार का आश्रय लेने को कहते हैं तब वह सोचती है कि—

यह कैसी छलना निर्मम
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार
तुम मन में हो छिपे
मुझे भटकाता है सारा संसार

(नीहार, पृ० १५)

उनका वास हृदय में ही है, यह भेद तो जानती ही हैं, इसके अतिरिक्त उसको प्राप्त करने के लिए किस प्रकार की साधना की आवश्यकता है, इससे भी आप पूर्ण परिचित हैं—

अपना जीवन दीप मृदुलतर
वर्ती कर निज स्नेहसिक्त उर
फिर जो जल पावे हँस हँस कर
हो आभा साकार
ओ पागल संसार

(नीरजा, पृ० १७)

यद्यपि यह माया का संसार क्षणिक और मिथ्या है, किन्तु यह न होता तो फिर इस आँख मिचौनी, हास-अश्रु का महत्व ही क्या था ? हमारी कवियित्री प्रिय से दूर रहने पर भी अपने को अमर सुहागिनी समझ कर अचल विश्वास का परिचय दे रही है—

दूर तुमसे हूँ अखंड सुहागिनी भी हूँ
बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ
(नीरजा, पृ० २१

ठीक भी है, जहां केवल काया-छाया का ही अंतर है वहां दूरत्व की भावना कैसे पैठ कर सकती है। प्रिय और प्रेमी का तो अन्योन्याश्रय है, एक के अभाव में दूसरे का कुछ महत्व ही नहीं रह जाता।

महादेवी जी ने अपने और प्रिय के सम्बन्ध की सूक्ष्मता को इतने निखरे रूप में हमारे सम्मुख रखा है कि उसके सामने निर्गुण सन्तों का अच्छी से अच्छी उक्तियाँ फीकी मालूम पड़ने लगती हैं। उसके प्रत्येक कार्य में उनका भी सहयोग दिखलाई पड़ता है—

नभ में उसके दीप
स्नेह जलता है पर मेरा उनमें
मेरे हैं यह प्राण, कहानी
पर उसकी हर कम्पन में
(नीरजा, पृ० ४०)

और जो यह नाना रंग-रूप युक्त संसार दिखाई पड़ रहा है यह उसी विराट सत्ता का प्रतिबिम्ब है। अपनी आंख की पुतली की करामात से अपनी अपनी भावना के अनुसार हम उसे भिन्न भिन्न स्वरूपों में देखते हैं।

मूंद पलकों में अचंचल
नयन का जादू भरा तिल
दे रही हूँ अलख अविकल
को सजीला रूप तिल-तिल
(सांध्यगीत, पृ० ३१)

केवल प्रेयसी ही प्रियतम की आराधना कर रही हो, यह बात नहीं, प्रिय ने भी अपनी प्रेयसी को रिझाने के अनुकूल सौंदर्य का विन्यास उसी के पार्थिव दर्पण (भौतिक शरीर) में बिंबित होकर किया है। किन्तु प्रियतम नटखट है, न जाने कब खीज कर इस दर्पण को चकनाचूर करदे, अतएव—

तोड़ देतो खीज कर जब तक न प्रिय यह मृदुल दर्पण
देखले उसके अधर सस्मित, सजल दृग, अलस आनन
आरसी प्रतिबिम्ब का कब चिर हुआ जग स्नेह-नाता।
(सांध्यगीत, पृ० ३३)

यह पार्थिव जीवन में अपार्थिव के आभास का एक संकेत है, अपनी सकारता में निराकार के प्रति निष्ठा है। किंतु जब कवि अपनी 'इकाई' में नहीं बल्कि उसे उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करना चाहता है, और अपने आपको भूल कर उसकी असीमता में विलीन हो जाना चाहती है जैसे अनंत में कोई रागिनी, तब उसे अपनी पार्थिव पार्श्वस्थ से सन्तोष नहीं रह जाता, उसकी आत्मा विकल विरहिणी हो जाती है। उसके जीवन में एक ही ध्येय रह जाता है—विरह। विरह में अद्वैतता प्राप्त हो जाती है, मिलन में तो पुन: दो का अस्तित्व मालूम पड़ने लगता है। नीचे विरह की अत्यंत निगूढ़ अवस्था का दिग्दर्शन कराया गया है—

आकुलता ही आज होगई तन्मय राधा
विरह बना आराध्य द्वैत क्या, कैसी बाधा।
(सांध्यगीत, पृ० १८)

विरह और वेदना ही मानव-जीवन को अधिक उदार, उर्वर और सहृदय बनाने में समर्थ होते हैं। इनसे जीवन निखर जाता है। इसी अन्याय मिरु तत्व की नींव पर महादेवी जी ने अपना रहस्यवादी प्रासाद खड़ा किया है। उनके प्रणय रूपकों में उन सभी प्रकार के हावभावों का निदर्शन

है जो एक प्रेमिका अपने प्रियतम के प्रति प्रकट करती है, राधा की तरह उन्मादिनी होकर, मीरा की तरह विरागिनी होकर। उनमें हँसी भी है, रुदन भी है। रोते रोते हँस देना और हँसते हँसते रोने में ही शांति पा लेना प्रेमी हृदय के पागलपन का विशेषता है। परन्तु यह साधारण पागलपन से भिन्न है क्यों, यह जानने को परम उत्सुक है कि आखिर मैं किस दिव्य सत्ता का अंश हूँ जो आज इस धूल में मुझे लोट कर मनमानी क्रीड़ा कर रहा है—

रजकणों में खेलती
किस विरज विधु की चाँदनी मैं?

महादेवी जी ने अपनी रहस्यवादी वाणी को कभी भी अटपटी बनाने का प्रयत्न नहीं किया। आध्यात्मिकता की ओर उनका रुख होने के कारण उनके हृदय की स्वाभाविक हूक ही आज इतने अनूठे रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हो गई है। उन्होंने तो प्रकृति के साधारण से साधारण दृश्यों और परिचित वस्तुओं से ही अपनी अनुभूति से अनुरंजित किया है। पुष्प और उसकी मधुर महक को देख कर उन्हें आत्मा और परमात्मा से सम्बन्ध रखनेवाले भेद अभेद का आभास मिलने लगता है—

जन्म से मृदु कंज उर में
नित्य पाकर प्यार लालन
अनिल के चल पंख पर फिर
उड़ गया जब गन्ध उन्मन
बन गया तब सर अपरिचित
हो गई कलिका बिरानी
निठुर वह मेरी कहानी।

(नीरजा, पृ० ८?)

इस प्रकार देवी जी ने दार्शनिक शुष्कता को हृदय सागर में डुबा डुबा कर आर्द्र कर दिया है। कहीं लोग आध्यात्मिकता की चकाचौंध में अपना अपना सच्चा मार्ग खोजने में कठिनाई का अनुभव न करें, इसी विचार से उन्होंने अपना अलौकिक प्रणय लौकिक प्रेम रूपकों में बाधा है। कवि कोई उपदेशक तो है नहीं उसे तो हमारे हृदय को ही अपने साथ लेकर चलना होगा। यदि आत्म समर्पण और अनन्य अनुराग का नाम ही प्रेम और परमात्मा है–चाहे वह लौकिक हो या अलौकिक–तो प्रेमाराधना की यह अभिव्यक्ति महादेवी की कविताओं में बड़ी मर्मस्पर्शिनी हुई हैं। हम सब लोग सगुण या निर्गुण परमात्मा को नहीं आराध सकते (अपने बौद्धिक विश्वास की भिन्नता के कारण) परन्तु अपनी पार्थिव इकाई से स्वाभाविक मानवी अनुराग–विराग से, उसी परम-ध्येय की उपलब्धि कर सकते हैं। जो तुलसी के लिए राम हैं, सूर के लिए कृष्ण हैं, कबीर के लिए अलख पुरुष हैं, मीरा के लिए गिरधर गोपाल हैं और शकुंतला के लिए दुष्यन्त है। इन विभिन्न आलम्बनों से हम एक ही सत्य (प्रेम) पर पहुंचे हैं। अपनी मिलन यामिनी का वर्णन करते हुए उन्होंने अपने रहस्यवाद का सार केवल चार पंक्तियों में कह डाला है—

> ओ मेरी चिर मिलन यामिनि !
> तम में हो चल छाया का क्षय,
> सीमित की असीम में चिर लय;
> एक हार में हो शत शत जय;
> सजनि ! विश्व का कण कण मुझको
> आज कहेगा चिर-सुहागिनी
> (नीरजा, पृ० ४२)

नवयुग की नव-प्रेरणाएँ—महादेवी जी की विचार धारा में अं बहते सदा परिवर्तन सांध्यगीत तक आते आते स्पष्ट रूप से लक्षित होने

लगता है, वह है समाज के जर्जर दैन्य जीवन की ओर दृष्टिपात तथा जागरण का सन्देश। महादेवी जी के काव्य पर मत प्रकट करने वाले अधिकांश आलोचकों ने उन्हें अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, रहस्यवादी आदि में उलझा हुआ बतलाया है। परन्तु यदि यह सत्य है कि काव्य जीवन की अभिव्यञ्जना का दूसरा नाम है और प्रत्येक साहित्यिक पर परोक्ष रूप में उसके चारों ओर की परिस्थितियों तथा काल का प्रभाव अवश्य पड़ता है तो हम महादेवी जी को भी किसी प्रकार इसका अपवाद नहीं मान सकते। उनके ऐसी प्रतिभाशील लेखिका जीवन के कटु सत्यों की ओर से बिल्कुल ही अपनी आँखें बन्द कर लेगी, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। हमें तो उनकी अत्यन्त सुकुमार कोमलकान्त पदावली में भी वह चिनगारी छिपी हुई मिलती है जो एक दिन अत्याचार की नींव पर स्थापित इस जर्जर समाज के ढाँचे को भस्मसात् कर देगी परन्तु इसके लिए उनकी हृदय की गहराई में पैठ करने की आवश्यकता है। महादेवी जी की अनुभूति बड़ी सूक्ष्म है, उनकी अभिव्यञ्जनाएँ बड़ी गम्भीर। वे किसी बात को ऊपर ऊपर से कह कर टाल देना नहीं चाहतीं, वरन् उस तत्व को अपने जीवन में घुला मिला लेना चाहती हैं। जो उन्हें जीवन के सत्य से मुख मोड़ कर असीम में आश्रय खोजने वाला (Escapist) ही समझते हैं उनके लिए सान्ध्यगीत के अधिकांश गीत ही पर्याप्त होंगे—

> जिसको पथ शूलों का भय हो
> वह ढूँढे नित निर्जन गह्वर
> प्रिय के संदेशों के वाहक
> मैं सुख-दुःख भेटूँगी भुज भर
>
> (सान्ध्यगीत, पृ० ७७)

यह अभिनव भावना एकाएक सान्ध्यगीत में फूट पड़ी हो, ऐसी बात नहीं है, इसके अंकुर हमें 'रश्मि' से ही मिलना प्रारम्भ हो जाते हैं, जब वे कहती हैं कि—

भरती मैं संसृति का क्रंदन
हँस जर्जर जीवन अपने में

संसार के विकट दुःख और असह्य दीनता को देखकर आप अपना दुःख सुख सब भूल जाती हैं और कह उठती हैं कि—

मेरे हँसते अधर नहीं
जग की आँसू लड़ियां देखो
मेरे बन्धन आज नहीं प्रिय!
संसृति की कड़ियाँ देखो

(नीरजा, पृ० ३७-३८)

सांध्यगीत में तो आकर आप शक्ति के रूप में जागरण का आह्वान ही करने लगती हैं। आज के हमारे मुमूर्षित जीवन की ओर दृष्टिपात कर वे हमें झकझोरने लगती हैं कि पथिक जागो तुम्हें बड़ी लम्बी मंजिल तय करनी है, अब आलस्य का अवसर नहीं—

चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना
जाग तुझको दूर जाना।
अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कम्प हो ले
या प्रलय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया
जाग या विद्युत शिखाओं में निठुर तूफान बोले
पर तुझे है नाश पथ पर चिन्ह अपने छोड़ जाना।

(सांध्यगीत, पृ० ५६)

आश्चर्य होता है जब ओस के तरल कणों के गान गाने वाली, तथा मधुपों की मधुर गुनगुन वीणा की झंकार समझने वाली यह कवयित्री

बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बंधन सजीले
पन्थ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रँगीले
विश्व का क्रंदन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन
क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस गीले
तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना
जाग तुझको दूर जाना

(सांध्यगीत, पृ० ५०)

महादेवी जी की अभिव्यंजना पद्धति

'छायावाद' का इतिहास बतलाते हुए हम लिख चुके हैं कि छायावादी काव्य दो प्रकार का होता है, एक तो शैली से सम्बन्धित और दूसरा वस्तु से। आजकल की अधिकांश छायावादी कही जाने वाली कविताओं का सम्बन्ध शैली (Form) अथवा रचना प्रणाली से ही विशेष रूप से है। इस काल के प्रमुख प्रतिनिधि कवि पं. सुमित्रानन्दन जी पन्त में भी हमें रचना प्रणाली का ही प्राधान्य दिखलाई पड़ता है। प्रारम्भ में अवश्य 'पल्लव' तक उन्होंने स्थान स्थान पर रहस्यवादी संकेत भी किए हैं, किंतु बाद की रचनाओं में तो वे जगत और जीवन की ओर ही अधिक आकर्षित मालूम पड़ते हैं। 'प्रसाद' जी में भी दोनों प्रकारों का समावेश है परन्तु इन विचारों को हम समन्वित रूप (United form) में नहीं पाते हैं, वे कुछ बिखरे बिखरे से हैं। महादेवी जी ही एकमात्र ऐसी कवियत्री हैं, जिनमें आदि से अन्त तक रहस्यवादी भावनाओं का कलात्मक समन्वय (Artist c unity) दिखलाई पड़ती है। रहस्यवादी शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं की रचनाओं के ही लिए प्रयुक्त मालूम पड़ता है। छायावाद का रचनाप्रणाली (form और वस्तु (matter) का इतना सुन्दर योग और किसी की कृतियों में सफलतापूर्वक नहीं चित्रित किया जा सकता है। इसके पहले कि हम उनकी अभिव्यंजना पद्धति का विवेचना कर पहले काव्यगत छायावाद के प्रमुख लक्षणों पर विचार कर लेना उचित होगा। साधारणतः काव्य में बिम्बस्थापना (Imagery) प्रधान वस्तु मानी जाती है। संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध कवि वाल्मीकि और कालिदास से लेकर शैली आदि तक प्रायः सभी बड़े बड़े कवि अपनी बिंबविधायक रचनाओं के ही लिए प्रसिद्ध हैं।

भाषा के दो पक्ष होते हैं एक सांकेतिक (symbolic और दूसरा बिंबविधायक (presentative)। आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल के अनुसार 'एक में तो नियत संकेत द्वारा अर्थबोध मात्र हो जाता है और

दूसरे में वस्तु का बिंब या चित्र अन्तःकरण में उपस्थित होता है। 'भावों की गूढ़ व्यंजना के लिए सांकेतिक (Symbolic) तथा वर्णनों के लिए चित्रात्मक पक्ष का ही सहारा लिया जाता है। आधुनिक छायावादी कविताओं में प्रायः प्रभावसाम्य और उपलक्षण का आधार लेकर ही व्यंजना करने की पद्धति प्रचलित है। साम्य (analogy) का स्वरूप बहुत विस्तृत है, जिसे प्रायः सभी कवियों ने अपनी अपनी भावना के अनुरूप भिन्न भिन्न ढंग से लिया है। इसका प्रयोग बाह्य व्यापारों तथा अन्तर्वृत्ति निरूपक (Subjective) दोनों की अभिव्यक्तियों के लिए किया जाता है। कभी अनेक अप्रस्तुतों का आयोजन करके, कभी प्रस्तुतों के साथ साथ जैसे उपमा रूपक इत्यादि में। कभी कभी स्वतंत्र रूप में भी जैसे पुरानी कविताओं में रूपकातिशयोक्ति आदि के द्वारा और कभी कभी लक्षण के सहारे अप्रस्तुतों के किसी व्यापार मात्र द्वारा, जैसे—

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना बन जाना
भीगी पलकों का लगना

'प्रसाद'

इनमें पहले तो अभिलाषाओं का मूर्तरूप कवि ने उपस्थित किया परन्तु फिर उसे आगे रूपक बांध कर बढ़ाया नहीं। केवल एक ही रूप लेकर समाप्त कर दिया। अब तनिक साम्य के भिन्न भिन्न स्वरूपों पर भी विचार कर लेना चाहिये। भारतीय साहित्य के आचार्यों ने साम्य तीन प्रकार के माने हैं (१) सादृश्य (रूप या आकार का साम्य) (२) साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) और शब्द साम्य। इनमें से शब्द साम्य तो केवल शब्दों के साथ क्रीड़ा करने वाले कवियों के ही काम का है। सादृश्य और साधर्म्य के सम्बन्ध में कुछ ध्यान देने की आवश्यकता है। बहुत से कवि

इसमें भामा भकोर, निवली और नीरद माला आदि की अप्रस्तुत योजना क्षोभ आकुलता, वदना की कमक और आँसू के लिए कर दी गई है। यही शैली में उप-लक्षणों की प्रधानता होने के कारण उसे लक्षण प्रधान काव्य कहा जाता है। अर प्रिय और प्रेमी के लिये मधुर मुरल कह कर हा काम चला लिया जाता है। इस प्रकार प्रभाव साम्य का क्षेत्र जितना विस्तृत तथा मर्म स्पर्शी है उतना ही मधुर और काव्य के अनुरूप। काव्य का ध्येय संसार के प्रत्येक तत्व का सौन्दर्य निखार कर हृदयग्राही रूप में हमारे समक्ष उपस्थित करना है। हमारे वर्तमान कवियों ने इस कार्य का जिस सूक्ष्म निरीक्षण तथा कल्पना के सहयोग से कर दिखाया है, वह हमारे साहित्य के उज्वल भविष्य का द्योतक है। इसी भाषा सौष्ठव के बल पर खड़ी बोली धीरे धीरे वह शक्ति अर्जित करती जा रही है, जिसके कारण वह भी एक दिन विश्व की उन्नतिशील भाषाओं का श्रेणी अगुआ बन सकने का साहस कर सकेगी।

प्रत्यक्ष है कि छायावादी काल में लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता के प्रति आकर्षक होने के साथ साथ शब्दों का व्यञ्जना शक्ति का भी पूर्ण विवेचन किया गया है। प्राचीन अलंकारों का तो काफी प्रयोग मिलता ही है फिर भी नई शैली में अलंकारों को अधिकतर बाह्य रूप में न लेकर लक्षणा के ही रूप में ग्रहण किया गया है। कल्पना और वक्रता के मोह के कारण दृष्टांत आदि के स्थान पर अन्योक्ति एवं समासोक्ति ही अधिक प्रिय हुई हैं। अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए मानवीकरण अलंकार का प्रयोग होने लगा तथा साध्यवसान लक्षणा ने चित्रमय विशेषणों की माँग पूरी की। जहाँ तक शब्दों की अन्तरात्मा के ज्ञान तथा उसकी व्यञ्जक शक्ति का प्रश्न है वहाँ तो कवियों ने कला की उच्चता की सीमा करदी। उनका प्रत्येक शब्द अपना अलग अलग व्यक्तित्व लिए हुए अपना इतिहास अपने ही मुँह से कहता हुआ मालूम पड़ता है। प० सुमित्रानन्दन जी पन्त के शब्दों में—"कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है' उसके शब्द

मुखर होने चाहिए जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार से चित्र और चित्र में झंकार हो। ···भाव और भाषा का सामञ्जस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्रराग है, जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गए हों।······ भावनाओं की तरलता अपने ही आवेश से अधीर हो जैसे शब्दों के चिरालिंगन पाश में बँध जाने के लिए, हृदय के भीतर से अपनी बाहें बढ़ाने लगी हों। यही भाव और स्वर का मधुर मिलन सरस सन्धि है।" पंत जी की यही सरस सन्धि हमारे साहित्य में 'शब्द मोचन' कही जाती है।

महादेवी जी की विशेषताएँ—इतने से हमें इस साहित्य की रूप रेखा का कुछ ज्ञान हो जाता है, अब यह देखना है कि महादेवी जी का इस कला के प्रसार में कितना हाथ है और कहां तक वे इस अभिनव स्वरूप को सफलतापूर्वक अपनाने करने में समर्थ हो सकी हैं। भाव की शक्ति बढ़ाने में चमत्कार-पूर्ण उक्तियां भी काफी प्रभाव डालती हैं। यह चमत्कार या तो शब्द या वाक्य के प्रयोग पर होता है। सुमित्रानन्दन जी पन्त में शब्दगत चमत्कार की ही प्रधानता है। महादेवी जी की उक्तियों में चमत्कार शब्दगत नहीं वाक्यगत है। उनके शब्द अपनी कहानी स्वयं नहीं कहते पूरे पद को पढ़ जाने पर ही हमारे सामने पूर्ण चित्र उपस्थित होता है, परन्तु उनके चित्रों की सजावट उनकी स्वतंत्र कला का द्योतक है। सबसे बड़ी विशेषता जो उन्हें आधुनिक काल के अन्य कवियों से अलग रखती है वह है उनके विषय निर्वाह में अन्विति (Unity) का पाया जाना। इतनी सुगठित और सुरुचि पूर्ण कलात्मक समन्विति (Artistic unity) हमें हिन्दी के वर्तमान कवियों में किसी में भी नहीं मिलती। यद्यपि इनका विषय (Theme) सीमित है, फिर भी उनके निर्वाह की एक रूपता देखते ही बनती है। पंत और प्रसाद दोनों में इस सम्बन्ध सूत्र का अनियम पाया

जाता है, उनके चित्र आदि से अन्त तक पूर्ण नहीं होते। महादेवीजी की छोटी से छोटी से लेकर बड़ी से बड़ी रचनाओं में भाव की एकता, विचार की एकता और प्रभाव की एकता समान दृष्टिगोचर होती है।

दूसरे उन्होंने अपनी रहस्यवादी भावनाओं को इतने सरल और हृदयग्राही रूप में व्यक्त किया है कि वे सर्वथा हमारी भावनाएँ मालूम पड़ती हैं। हम उनमें अपने सुख दुःख की खोज करने लगते हैं, कलाकार की सफलता भी यही है। सच तो यह है कि महादेवी जी ने अपनी तपस्या से हृदय और बुद्धि को एक कर दिया है। इसलिए तो वह हमें कबीर के उपदेशों की भाँति पराया नहीं मालूम पड़ता। अपनी विदग्ध भावुकता से उन्होंने अगम अव्यक्त को भी इस प्रकार व्यक्त कर दिया है, मानों हम उन्हीं के साथ-साथ अपने जीवन के नित्यकर्म करते हुए हँसते रोते आगे बढ़ते जाते हैं। महादेवी जी की लोकप्रियता का यह भी एक मुख्य कारण है। उन्होंने रहस्यवादियों की कोटि में अपना नाम लिखाने के लिए रहस्यवाद का पल्ला नहीं पकड़ा, वरन् नारी स्वभाव की कोमलता से द्रवित होकर माधुर्य भाव के सहारे उस प्रियतम के सामीप्य लाभ की इच्छा की है। इसीसे उनकी प्रारंभिक रचनाओं में हमें वेदना की ही प्रधानता दिखलाई पड़ती है, जो क्रमशः रहस्यवाद की ओर प्रवृत्त होती गई है।

महादेवी जी में विप्रलम्भ शृंगार ही प्रधान है। रहस्यवाद के संयोग से उसमें और गम्भीरता आगई है। उन्होंने प्रेम की अन्तर्दशाओं (Psychology of love) के जो चित्र यत्र-तत्र किए हैं उनमें बड़ी ही स्वाभाविकता दिखलाई पड़ती है। ऐसे वर्णन बड़े ही सीधे सादे होते हैं, न उनमें बिहारी की शोखियां हैं और न केशव के अर्थ शब्दाकार की कलाबाजियाँ ही। कहीं कहीं तो भारतीय नारी की युग युग से परिचित तस्वीर हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाती है जैसे दीपक को अंचल की ओट में किए हुए देवमंदिर की ओर जाती हुई करुण नारी के चित्र —

मेरी निश्वासों से द्रुततर
सुभग न तू बुझने का भय कर
मैं अंचल की ओट किए हूं
अपनी मृदु पलकों से चंचल
(नीरजा, पृ० ३०)

इसी प्रकार चिर विरहिणी नारी को प्रिय को पत्र लिखते हुए देखने पर सूर की पाती की याद आजाती है जिसे पढ़ते पढ़ते राधिका की विह्वलता ने श्याम की पाती को श्याम ही कर डाला था। ज़रा इस स्वाभाविक विवशता पर तो गौर कीजिए—

कैसे संदेश प्रिय पहुंचाती ?
दृग जल की सित मसि है अक्षय
मसि प्याली झरते तारक द्वय
पल पल के उड़ते पृष्ठों पर
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर
मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती
कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती ?
(नीरजा, पृ० ४३)

प्रेम की अनिर्वचनीयता की व्यञ्जना महादेवी जी ने भी घनानन्द आदि विदग्ध कवियों की भाँति विरोधाभासों द्वारा ही की है, तथा—

(१) भूलना बनता मीठी याद
(२) देखोगे तुम देव, अमरता
खेलेगी मिटने का खेल
(नीरजा, पृ० [illegible])

(३) दीप सी जलती न तो यह सजलता रहती कहीं ।
(सान्ध्यगीत, पृ० २८)

(४) कितने मृदु कितने कठिन प्राण
(सान्ध्यगीत, पृ० ७५)

(५) चिर वसन्त है मेरे इस पतझर की डाली डाली
(नीरजा, पृ० ५६)

कहने की आवश्यकता नहीं की इनकी रचना आत्मानिष्ठक (Subjective) होती है वाह्यार्थ निरूपक (Objective) नहीं यहाँ तक कि प्रकृति का चित्रण करने में भी महादेवी जी अपने व्यक्तित्व को अलग नहीं रख सकी हैं। इस तरह एक प्रकार की कमी भी आगई है। वह प्रकृति के शुद्ध स्वतन्त्र वर्णन से वंचित रह गई है। संस्कृत कवियों जैसा प्रकृति वर्णन इनके काव्य में देखने को नहीं मिलता। 'शरद' का वर्णन शरद के लिए और वर्षा का वर्षा के लिए नहीं किया गया है। परन्तु इन्होंने प्रकृति के साथ इतना तादात्मय स्थापित कर लिया है कि यह कभी कहीं भी खटकता नहीं प्रतीत होती। उनमें रीतिकालीन कवियों की भाँति बाहरी उछल कूद बहुत कम मिलती है। जो कुछ हलचल है वह भीतरी ही, बाहर से इनका वियोग प्रशान्त और गम्भीर है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके विरह में वेग और प्रभाव की कमी है उसका तो वहां बाहुल्य है परन्तु दूसरे रूप में —

शलभ मैं शापमय वर हूं
किसी का दीप निष्ठुर हूँ
ताज है जलती शिखा, चिनगारियां शृंगार माला
ज्वाल अक्षय कोष सी, अंगार मेरी रंगशाला
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूं
(सान्ध्यगीत, पृ० ७५)

संचारियों का बाहुल्य- महादेवी जी ने अपने विप्रलंभ की व्यंजना का प्रभाव बढ़ाने के लिए संचारी भावों का सहारा लिया है। इन संचारियों का वर्णन नितांत ही स्वाभाविक हुआ है। उनकी नायिका की स्मृति, उसके स्वप्न, उसकी आशाएं, उसकी उत्सुकता, उसकी प्रतीक्षा, उसकी व्याकुलता, उसके हृदय में उत्पन्न होने वाले सादृश्य भावादि अपार्थिव और अलौकिक होने पर भी इसी जगत के मालूम पड़ते हैं। उसकी नायिका उस अज्ञात शक्ति की सुधि करती हुई, उसी प्रकार प्रतीत होती है जिस प्रकार साधारण स्त्रियां अपने पति अथवा प्रेमी की प्रतीक्षा करती हैं। विप्रलंभी कवि अपने वियोग की व्यंजना में स्वप्न और स्मृति संचारी का बड़ा सहारा लेते हैं। महादेवी जी में इन दोनों प्रकार के संचारियों का बाहुल्य देख पड़ता है। उनकी नायिका स्वप्न में प्रिय के दर्शन कर प्रातः काल उसी क्षणिक मिलन की याद करके अश्रु बहाती है—

> नींद सागर से सजनि ! जो ढूँढ लाई स्वप्न मोती
> गूंथती हूँ हार उनका, क्यों कहा मैं प्रात रोती !
>
> (सांध्यगीत पृ ३३)

स्वप्न और मोती का रूपक सर्वथा नवीन और मौलिक है। इस स्वप्न संचारी में स्मृति और दैन्य संचारी भी छिपा हुआ है।

रहस्यवादी प्रवृत्ति होने के कारण वे प्रायः अपने प्रिय का आभास स्वप्न अथवा विस्मृति अवस्था में ही पाती हैं, अतएव जगने पर उसकी स्मृति में विह्वल हो उठती हैं—

> वे मूक हुई झंकारें
> वह चूर हो गया प्याला
> हो गई कहां अन्तर्हित
> सपने लेकर वे रातें।
>
> (नीहार पृ० ४१)

यहाँ भी स्वप्न-संचारी के साथ स्मृति-संचारी का बड़ा सुन्दर योग निभाया गया है। इतना ही नहीं कहीं कहीं तो उन्होंने अपनी स्मृति को ही नाकार कर दिया है—

सजनि अन्तर्हित हुआ है, 'आज' में धुँधला विफल' 'कल'
हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह में मिल
राह मेरी देखती

स्मृति अब निराश पुजारिनी सी !

(सांध्य गीत पृ० २४)

'स्मृति' ऐसी अमूर्त चीज में मानवता का आरोप कल्पना की एक सुन्दर उड़ान का उदाहरण है और फिर एक निराश पुजारिन के समान उसके प्रतीक्षा करने की बात देख कर तो समस्त वातावरण में एक विचित्र प्रकार की उदासीनता टपकने लगती है। देवी जी स्मृति को उपमा एक विरहोत्कंठिता नायिका या किसी और नायिका से भी द सकती थीं पर इन्होंने ऐसा न कर पुजारिन से उपमा दी। इसका परिणाम यह हुआ कि इनके गीत में एक आध्यात्मिक वातावरण विद्यमान हो गया। धुँधले विकल 'कल' की याद 'आज' में अन्तर्हित हो गई है। 'कल' का मिलन का रूप आज विरह के रूप में होते हुए भी (स्मृति करते करते) मिलन का रूप हा धारण कर बैठा है। कितनी मनोवैज्ञानिकतापूर्ण बात है। श्याम का पत्र पढ़ते पढ़ते राधिका अपने अश्रुओं से पत्र ही को श्याम रंग का नहीं कर देती वरन् स्वयं श्याममय हो जाता है। सांध्यगीत और नीरजा में तो स्मृति संचारियों की भरमार हो गई है।

---

१. श्यामनारायण बैजल—महादेवी जी वर्मा की काव्य साधना,

नीहार में महादेवी जी की चिंता और विषाद की भावनाओं का काफी स्वरूप हमें देखने को मिलता है, फिर भी दुख सचारी के जितने चित्र उनके काव्य में मिलते हैं, वे सब के सब वाह्यरूप से निराशात्मक आवरण से ही परिचित कराते हैं, परन्तु उन सब मे ओट द-वेस्ट विंड की भाति मगलाशा का सन्देश छिपा हुआ है —

> है पीडा की सीमा यह
> दुख का चिर सुख होजाना
>
> (रश्मि पृ० १८)

कहने का तात्पर्य यह है कि अपने स्थायी भाव रति को सुस्पष्ट करने के लिए जितने भी सचारी भावो का प्रयोग इन्होंने किया है उसमें यह सफल रही हैं।। उपरोक्त सचारियों के अतिरिक्त आशा (नीरजा, पृ० १०८) आकाक्षा (नारजा पृ० १०१) उपालम्भ, दैन्य, प्रतिज्ञा आदि भावों को भी स्पष्ट करने में यह फलीभूत हुई हैं। प्रति रतिस्थायी के अतिरिक्त इन्होंने ससार मृत्यु, समाधि के दीप से, अलि से इत्यादि बहुत से विषयों पर लेखनी चलाई है, पर प्रधान भाव रति ही है।

अप्रस्तुतों की योजना— वर्तमान छायावादी कवि प्राय प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत उपमानों का प्रयोग बहुतायत से करते हैं। कविवर सुमित्रानन्दन जो पत इस कला में सब से बढे चढे हैं। उनकी कुछ कविताएँ तो केवल अप्रस्तुत की योजना मात्र के ही लिए रची गई मालूम पडती है। जैसे छाया, नक्षत्र आदि। तनिक छाया के भिन्न भिन्न स्वरूपों पर ध्यान दीजिए —

> (१) गूढ कल्पना सी कवियों की
> अज्ञाता के विस्मय सी
> ऋषियों के गम्भीर हृदय सी
> बच्चों के तुतले भय सी

(२) वक्षर के छायानुवाद सी
उपमा सी, भावुकता सी
अविदित भावाकुल भाषा सी
कटी छँटी नव कविता सी

(पल्लव)

इसी प्रकार उन्होंने अपनी कल्पना के पंखों पर उड़ कर सुन्दर प्रदेश के न जाने कितने उपमान ला खड़े किए हैं। महादेवी जी ने भी कई स्थानों पर अप्रस्तुतों की योजना की है किन्तु वे नितांत स्वाभाविक और अनायास लिए मालूम पड़ते हैं, जैसे:—

(१) मूक प्रणय से, मधुर व्यथा से
स्वप्न लोक के से आह्वान
वे आए चुपचाप सुनाने
तब मधुमय मुरली की तान

(नीहार पृ० ४)

(२) दैव सा निष्ठुर दुःख सा मूक
स्वप्न सा छाया सा अनजान
वेदना सा तम सा गम्भीर
कहाँ से आया वह आह्वान

मानवीकरण (Personification)—

पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से हमारे साहित्यकों में इधर अने प्रकृत पदार्थों में मानवता के आरोप करने की बहुत अधिक प्रवृत्ति होती आ रही है। ऐसा करने से हमारे चारों ओर के जड़ वातावरण में भी एक जीवन सा पड़ जाता है। महादेवी जी में इस कला की पूर्णता अद्वितीय है। क्यों न

हो, उनमें लेखनी के साथ तूलिका का भी तो संयोग रहने लगा है। कवि और चित्रकार को एक में मिला देने से जिस मूर्तिमत्ता की हम, कल्पना कर सकते हैं, उसी के दर्शन हमें महादेवी जी में मिलते हैं। वसंत रजनी का शृंगार किए हुए अभिसारिका के रूप में एक चित्र देखिए :—

धीरे धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त रजनी!
तारकमय नव वेणी-बन्धन;
शीश फूल कर शशि का नूतन
रश्मि वलय सित घन अवगुंठन
मुक्ताहल अविराम बिछा दे
चितवन से अपनी

(नीरजा पृ० ३)

ऐसा मालूम पड़ने लगा है जैसे सचमुच कोई अभिसारिका क्षितिज से धीरे धीरे नीचे उतरती आ रही है। इस प्रकार मूर्तत्व का आरोप हमारे हृदय को अपने साथ बांध लेता है, और भी

पल्लव के डाल हिंडोले
सौरभ सोता कलियों में

(नीहार, पृ० १६)

कण्टकित मौलश्री, हरसिंगार
रोके हैं अपने श्वास शिथिल

(सांध्यगीत, पृ० ११)

वर्ण परिज्ञान—"कलाकार को रंगों का बड़ा सूक्ष्म ज्ञान होना आवश्यक है। कविजी के पोट्स, टेरोटो, रिफावर्न, रावर्ट क्रिमेन आदि बहुत से

धरल है। भावों को अधिक गंभीर एवं प्रभावशाली बनाने के लिए आपने अभिव्यंजना के अनूठेपन से ही काम लिया है। यथा—

(१) अलसाई है विरह यामिनी
पथ में लेकर अपने सुख दुख
(२) झंझा के उन्मादों में
घुलती जाती बेहोशी
(३) गायक वह गान तुम्हारा
आ मंडराया पलकों में
(४) बेसुध से प्राण हुए जब
छूकर इन झंकारों को

इस प्रकार अपने भाव-पक्ष को व्यंजित करने के लिए जिस कलापक्ष का आपने अवतरण किया है, वह हिन्दी साहित्य की प्राचीन चली आती हुई काव्य परंपरा को न मानता हुआ भी सुन्दर और अनुपम है। उसका अंग नए प्रतीकों से बना हुआ है। ऐसे प्रतीकों और अलंकारों का इन्होंने प्रयोग किया है जिसे हम हरिश्चन्द्र काल में नहीं पाते, सूर और तुलसी में नहीं पाते। तुलसी के चातक और पपीहे को भी यह नहीं भूली है पर साथ ही 'कामना की पलकों पर झूलना' 'विरह यामिनी का अलसाना' 'गान का पलकों में मँडराना' आदि प्रयोग इनकी अपनी स्वतंत्र उक्तियाँ हैं। पंत और प्रसाद ने भी ऐसे लाक्षणिक प्रयोगों का काफी सहारा लिया है मध्यकालीन कवियों में घनानन्द जी में अवश्य इसका निखरा हुआ रूप हमें दिखलाई पड़ा था, किन्तु उनके बाद जैसे किसीने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया—

अरसानि गही एहि वान कछू
सरसानि सों आनि निहोरत है

(घनानन्द, पृ० ८२)

घनानन्द जी के 'बात के अलसा जाने' से महादेवी जी की विरह यामिनी का अलसाना कुछ कम नहीं है। ध्यान देने की बात यह है कि *अलसाई तो विरहिणी है परन्तु उसकी व्यापकता दिखाने के लिए यामिनी को* ही अलसाया हुआ बतलाया गया है। इसी प्रकार घनानन्दजी की उक्ति में प्रिय कुछ आलसी-सा हो गया है कि अपने प्रेमी की सुधि तक नहीं लेता, परन्तु *उन्होंने उसका करने* की आदत को ही अलसाई हुई कहकर, उसके प्रभाव को कहीं अधिक बढ़ा दिया है। इन अनूठी व्यंजनाओं से भाषा की व्यंजक शक्ति कितनी बढ़ जाती है, यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा।

अलंकार— महादेवी जी ने अलंकारों का बहुतायत से प्रयोग किया है, अतएव उन पर भी एक सरसरी दृष्टि डाल देना चाहिए, यद्यपि वर्तमान समालोचक अलंकारों को चिरन्तन सनातनधर्मियों के अछूत स्पर्श से कम *भयावना नहीं समझते। बात यह है कि कुछ तो अलंकारों का ठीक ठीक* अर्थ समझने में हमने गड़बड़ी की और कुछ रीतिकालीन अलंकारवादियों ने काव्य के मार्मिक स्वरूप को भुलाकर अलंकारों की ही सजावट से अपने *नायिका के शृंगार की अति कर दी हो सकता है कि आजकल के* साहित्यकों का अलंकारों के प्रति नाक मुँह सिकोड़ना उसी की प्रतिक्रिया हो। जो कुछ भी हो जहाँ अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग होता है वहाँ हमें सौंदर्य का अधिक प्रसार दिखलाई पड़ता है, पर जहाँ जान बूझ कर, 'कला कला के लिए' के ही समान 'अलंकार के लिए' का प्रश्न हो वहाँ तो खुदा ही हाफ़िज़। आचार्य पं॰ रामचन्द्र जी शुक्ल के मत में रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है। पंत जी ने भी अलंकारों के स्वाभाविक समावेश का समर्थन किया है। उनका कहना है कि अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के लिए विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार व्यवहार रीतिनीति हैं, पृथक स्थितियों के पृथक

स्वरूप, भिन्न अवस्था के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकार विराम पटना से टकरा कर फेनाकार हो गई हो कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हो। ये वाणी के हास अश्रु स्वप्न पुलक, हाव भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता, शब्दों की कृपण जड़ता में बंधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह इकसार हो जाती है।"

महादेवी जी भी काव्यरुचि अत्यंत अलंकृत है। उनके काव्य में अलंकार आभूषण के रूप में नहीं, बल्कि उनके भावचित्रों के रूपरंग मालूम पड़ते हैं। उन्होंने उपमा और रूपक दोनों का बहुत प्रयोग किया है परन्तु रूपक अलंकार उन्हें विशेष कर प्रिय है और रूपक के का निर्वाह भी वे बड़ा अच्छा करती हैं—

क्या नई मेरी कहानी
विश्व का कण-कण सुनाता
प्रिय यही गाथा पुरानी
सजल बादल का हृदय कण
चू पड़ा जब विकलभूपर
पी गया उसको अपरिचित
तृषित दूर का पंक का डर
मिट गई उससे तड़ित सी
हाय वारिद की निशानी

(नीरजा पृ० ८८)

(२) नयन की नीलम तुला पर, मोतियों से प्यार तोल,
कर रहा व्यापार कब से मृत्यु से यह प्राण मोल।

(सांध्यगीत पृ० १९)

(३) क्यों वह प्रिय आता पार नहीं !
  शशि के दर्पण में देख-देख
  मैं ने सुलझाए तिमिर केश
  गूंथे चुन तारक पारिजात
  अवगुंठन कर किरणे अशेष
  क्यों आज रिझा पाया उसको
  मेरा अभिनव शृंगार नहीं ?

(सान्ध्यगीत पृ० ११)

उपमा अलंकार भी चारों ओर बिखरा मिलता है —

(१) सजनि मैं उतनी करुण हूं करुण जितनी रात
(२) सजनि मैं उतनी मधुर हूं मधुर जितना प्रात
(३) सजनि मैं उतनी सजल जितनी सजल बरसात,

(सान्ध्यगीत पृ० ५८)

प्राय सभी वर्तमान कवियों ने समासोक्ति अन्योक्ति का बहुत प्रयोग किया है। अब तथ्यों का महत्व दिखाने के लिए प्राचीन उपमान [illegible] के स्थान पर अन्योक्ति पद्धति का अनुसरण किया जाता है। उदाहरण [illegible] का अन्त किया तो उसके पाने [illegible] से अनुरंजित होता है —

टूट गया वह दर्पण निर्मम
  जिसमें देख सजाऊँ कुन्तल
अंगराग पुलकों का मल-मल
  स्वप्नों से आँजू पलकें चल
किस पर रीझूँ, किससे रूठूँ
  भाऊँ किस छवि से अलबेलम

(नीरजा पृ० ६४)

उत्प्रेक्षा के सहारे तो महादेवी जी ने अपनी कल्पना को इतना अधिक विस्तृत कर दिया है कि समस्त प्रकृति उन्हीं की प्रतिछाया मात्र मालूम पड़ती है—

(१) किसके पद चिन्ह विमल
तारकों में अमिट विरल।
(नीरजा पृ० ५५)

(२) प्रिय गया है लौट रात
सजल धवल अलस चरण
मूक मदिर मधुर करुण
चांदनी है अश्रुस्नात
(नीरजा पृ० ५५)

अपह्नुति का प्रयोग यद्यपि आपने कम किया है, पर जहां कहां भी किया है, उसे सर्वथा मौलिक रूप में भाव के उत्कर्ष के ही लिए किया है यथा—

जागो बेसुध रात नहीं यह
भीगी मानस के दुख जल से
भीनी उड़ते सुख परिमल से
हैं बिखरे उर की निश्वासें
मादक मरे बतास नहीं यह
(नीरजा पृ० १२०)

इनके अतिरिक्त स्मरण, भ्रान्तिमान, सन्देह, अधिक आदि अलंकारों का भी प्रयोग मिलता है। रूपक अलंकार पन्त जी और महादेवी जी दोनों का प्रिय अलंकार है। कारण इसी के द्वारा तो ससीम और असीम का

समन्वय किया जा सकता है। यद्यपि पंतजी भी विधु में सिंधु को समा कर इसका प्रयोग कर चुके हैं, परन्तु उनमें इसका स्वाभाविकस्वरूप नहीं निखर पाया है। तारीफ यह है कि प्रत्येक स्थान पर वह विरह का तात्पर्य की बड़ी सुन्दर व्यंजना करने में समर्थ हुआ है। यथा—

(१) मेरी निश्वासों से बहती रहती झञ्झावात
आंसू में दिन रात प्रलय के घन करते उत्पात।
(नीरजा पृ० १०६)

(२) जब मेरे लघु उर में अम्बर
नयनों में उतरेगा सागर।
(सांध्यगीत पृ० ६६)

कुछ 'असंगति' की भी छटा देखिए—

उमड़ता मेरे दृगों में,
बरसता घनश्याम में जो।
(सांध्यगीत पृ० ३०)

शब्दालङ्कारों में अनुप्रास और वीप्सा का ही प्रयोग आप को प्रिय है। जिन में वीप्सा का प्रयोग पंत जी और महादेवी जी दोनों ने स्थान-स्थान पर किया है। जहां कहीं उनकी भावना वेग से उमड़ पड़ी है वहीं वीप्सा का सहारा लिया गया है—

ज्यों बरस-बरस पड़ने को
हों उमड़-उमड़ उठते घन
(पंतजी 'गुंजन')

महादेवी जी की शैली का तो यह खास अंग बन गया है—

(१) मधुर-मधुर मेरे दीपक जल
(२) हठीले हौले – हौले बोल
(३) जग करुण-करुण में मधुर-मधुर
दोनों मिल कर देते रजकण
चिर करुण मधुर सुन्दर-सुन्दर
(४) अनिल बन लौ-धो मार तुषार।

महादेवी जी की भाषा

हिन्दी काव्य ससार में, महादेवी जी के जगमगाते व्यक्तित्व की द्योतक उनकी भाषा ही है, जो उन्हें समसामयिक कवियों में सबसे अलग उच्चतम स्थान पर पदारूढ़ करने में समर्थ है। सचमुच भाषा की यह गठन और प्रवाह हिन्दी के किसी भी कवि में देखने को नहीं मिलता। यद्यपि आपकी भाषा सस्कृतगर्भित है परन्तु उसकी सुकुमारता, चञ्चलता और रवानगी को देख कर यह कहना पड़ता है कि खड़ी बोली ने महादेवी जी के हाथों से अपना मनवाञ्छित स्वरूप प्राप्त कर लिया। हम तो 'पंत' जी और प्रसाद जी में भी भाषा की वह गठन और बहाव देखने को नहीं मिलता जो महादेवी जी की प्रत्येक रचना में अन्त सलिला की धारा की भांति प्रवाहित होता रहता है। भाषा के सम्बन्ध में पंत जी ने अपने 'पल्लव' की भूमिका में लिखा है कि जिस प्रकार बड़ी जुवाने से पहले दहद को मथ कर हलाका तथा कोमल करलेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप को भावों के ढाचों में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गला कर कोमल, करुण, सरस और प्रांजल कर लेना पड़ता है। महादेवी जी भाषा को पढ़ कर हमें कहना पड़ता है कि कदाचित पंतजी का तात्पर्य इसी प्रकार की भाषा से था। उनकी व्यञ्जना शक्ति बड़ी चढ़ी है कि कहीं भी भाषा के कारण भाव को रुकना नहीं पड़ता है। उनकी

अभिव्यंजनाएँ अनूठी और चलती हुई होती हैं, उनमें विशेष प्रकार की सादगी और जीवन की मार्मिक अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण पाया जाता है। किसी अतीत की स्मृति का चित्रण करती हुई आप कहती हैं कि—

गूँजता उर में न जाने
दूर के संगीत सा क्या!

(नीरजा पृ० १४)

'इस दूर के संगीतसा' कहने में जो अस्पष्टता तथा प्राचीन स्मृतियों के धुंधले स्वरूप का आभास दिया गया है, वह भाषा की सर्वोच्च पहुंच का प्रमाण उपस्थित करता है। इसी प्रकार—

झँझा की पहली नीरवता सी
नीरव मेरी साधें

(रश्मि पृ० ३२)

जिस प्रकार प्रबल झंझा के तूफानी वेग के पहले समस्त वातावरण प्रशान्त और स्तब्ध हो जाता है उसी प्रकार भविष्य में तूफानी रूप धारण करने वाली मेरी साधें आज मूक हैं। साथ ही जीवन में उथल-पुथल मचाने वाली भावनाओं की ओर भी संकेत है।

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं आज कल शब्दों की स्वतन्त्र कान्ति आँकी जाने लगी है। प्रत्येक शब्द एक एक भाव का द्योतक होता है। इसी के आधार पर आज कल नाद अनुभूति (Sense impressionidm) का भी काफी ध्यान रक्खा जाता है। तात्पर्य यह कि पद पढ़ते ही उसकी ध्वनि से एक प्रकार से अर्थ का आभास होने लगता है। जैसे

घनानन्द के "जगते के प्रान? ओछे बड़े को समान घन आनन्द निधान सुखदान दुखियान है" में मृदंग की ध्वनि का आभास हो जाता है। महादेवी जी में यह विशेषता अधिक तो नहीं पर फिर भी काफी पाई जाती है। जैसे—

अप्सरि! तेरा नर्तन सुन्दर!
जड़ करण करण के प्याले झलमल
छलकी जीवन मादिरा छल-छल
पीती थक झुक-झुक झूम-झूम
तू घूँट घूँट फेनिल शीकर!

(नीरजा पृ० ११३)

महादेवी जी की भाषा में इतना सत्वर और लोच देख कर कह पड़ता है कि 'देवी जी' के गीतों का एक बड़ा आकर्षण उनकी कोमल अनमं साँचों में गढ़ी भाषा है। भाषा के लिहाज से आप हिन्दी के किसी कवि से आगे हैं। पंत जी की भाषा क्लिष्ट और संस्कृत भार से थकी है। 'निराला' के शब्दों में अबाधवेग अवश्य है किन्तु उनकी भाषा में पचीकारी कहाँ। अन्य कवियों में इस प्रकार चुन चुन कर मोतियों जड़ाई नहीं मिलती। भगवती चरण वर्मा और बच्चन फौरन उर्दू की शरण लेते हैं। इस मधुर निर्झरिणी का मन्दिर कलकल निनाद अद्वितीय है। यह शब्दों की शिल्प कला आप की निजी विशेषता है।

यह भाषा अलंकार भार से मुक्त अवश्य है किन्तु बड़े चतुर कारीगर से गढ़े ये अनंकार हैं। एक शब्द चुन चुन कर इस शिल्पी ने सजाया है—

दुःख से आविल, सुख से पंकिल
बुद-बुद से स्वप्नों से फेनिल

"युग युग से अधीर" कवियत्री की भाषा है। आपके अधिकतर शब्द अमिश्रित संस्कृत से निकले हैं और आपकी ध्वनियाँ सदैव कोमल हैं हिन्दी काव्यपरंपरा में बिहारी देव, केशव और मतिराम इसी श्रेणी के शिल्पी थे।

महादेवी जी के गीत राग रागिनियों में नहीं हैं। सवैया कवित्त आदि छंदों को आपने नहीं अपनाया।

मालिनी छंद का कहीं कहीं प्रयोग मिलता है पर अधिकतर इस क्षेत्र में आप स्वच्छंद ही रही हैं। आपका सबसे प्रिय छंद रोला में से दो मात्राओं को निकाल कर बनाया मालूम पड़ता है। जो कुछ भी हो आपके छंदों का प्रवाह अद्वितीय होता है, शायद अंग्रेजी के (अबुद्धिपूर्वक प्रयोग) Unpemiditatdar से इसी पूर्णता का आशय होगा।

अब दो शब्द आपके चित्रों के विषय में भी। आपकी कवितायों के अन्तिम चरण में आपकी कल्पना सतरंगी बन कर बिखर पड़ी है। अपने चित्रों में कूँची और कल्पना का समन्वय करने में आपने आशातीत सफलता प्राप्त की है। बचपन से ही आपमें इस रुचि के बीज मिलते हैं। जैसा कि आपने स्वयं लिखा है कि शैशव से ही रंग और रेखाओं के प्रति मेरा बहुत कुछ वैसा ही आकर्षण रहा है जैसा कविता के प्रति। आपकी इन चित्रों को यदि हम मूक काव्य की संज्ञा दे सकें तो अनुचित न होगा। किसी कवि की यह प्रक्रिया महादेवी जी के व्यक्तित्व से अपने आपको किस प्रकार सार्थक कर रही है—

मैं कवि हूँ तू है चित्रकार
मैं तेरे रंग में स्वर भर दूँ
तू मेरे स्वर रंग दे उदार
मैं कवि हूँ तू है चित्रकार

---

१. प्रकाशचन्द्र गुप्त कमला (१९३९) श्री महादेवी वर्मा।

"युग युग से अधीर" छवियश्री की भाषा है। आपके अधिकतर शब्द अमिश्रित संस्कृत से निकले हैं और आपकी ध्वनियाँ सदैव कोमल हैं हिन्दी काव्यपरंपरा में बिहारी देव, केशव और मतिराम इसी श्रेणी के शिल्पी थे।

महादेवी जी के गीत राग रागिनियों में नहीं हैं। सवैया कवित्त आदि छँदों को आपने नहीं अपनाया।

मालिनी छँद का कहीं कहीं प्रयोग मिलता है पर अधिकतर इस क्षेत्र में आप स्वच्छँद ही रही हैं। आपका सबसे प्रिय छँद रोला में से दो मात्राओं का निकाल कर बनाया मालूम पड़ता है। जो कुछ भी हो आपके छँदों का प्रवाह अद्वितीय होता है, संभवतः अंग्रेजी के (अबुद्धिपूर्वक प्रयोग) Unpemiditatdar से इसी पूर्णता का आशय होगा।

अब दो शब्द आपके चित्रों के विषय में भी। अपनी कवियत्री के अन्तिम चरण में आपकी कल्पना सतरंगी बन कर बिखर पड़ी है। अपने चित्रों में कूँची और कल्पना का समन्वय करने में आपने आशातीत सफलता प्राप्त की है। बचपन से ही आपमें इस रुचि के बीज मिलते हैं। जैसा कि आपने स्वयं लिखा है कि शैशव से ही रंग और रेखाओं के प्रति मेरा बहुत कुछ वैसा ही आकर्षण रहा है जैसा कवित के प्रति। आपकी इन चित्रों को यदि हम मूक काव्य की संज्ञा दे सकें तो अनुचित न होगा। किसी कवि की यह प्रक्रिया महादेवी जी के व्यक्तित्व से अपने आपको किस प्रकार सार्थक कर रही है—

मैं कवि हूँ तू है चित्रकार
मैं तेरे रंग में स्वर भर दूँ
तू मेरे स्वर रंग दे उदार
मैं कवि हूँ तू है चित्रकार

१ प्रकाशचन्द्र गुप्त, कमला (१९३१) श्री महादेवी वर्मा।

आपकी प्रारंभिक रचनाओं में कुछ लिंग की गलतियाँ तथा शब्दों के विकृत प्रयोग भी मिलते हैं। यथा—

> नहीं अब जो आएगा लौट
> यही 'उसकी' अक्षय संदेश

इसमें आएगा लौट के साथ उसकी संदेश का स्त्रीलिंगवत प्रयोग खटकता है। इसी प्रकार ज्योतिस्ना, आह्वान, नक्षत्रयोनी आदि का प्रयोग। किन्तु यह गलतियाँ इतनी कम पाई जाती हैं कि बिलकुल नहीं 'खटकतीं' और धीरे धीरे लोप भी होती गई हैं। शेफाली और हरसिंगार को भी आपने भिन्न माना यद्यपि दोनों एक ही के नाम हैं।

उपसंहार

हिन्दी साहित्य में गीतिकाव्य के वर्तमान स्वरूप के संवारने का श्रेय श्रीमती महादेवी जी वर्मा को ही है। आजकल पत्र पत्रिकाओं में गीत काव्य शैली की भरमार दिखाई पड़ती है, वह महादेवी जी के ही अनुसरण पर चल रही है। श्री रामकुमार जी वर्मा तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के गान भी महादेवी-स्कूल के ही अंतर्गत आते हैं। जहाँ महादेवी जी ने वर्तमान अभिनव स्वरूप का सृजन किया है वहीं गीतों को भावों के अनुरूप ही भाषा का भी दान किया है। उनकी भाषा संगठन, गठन, प्रांजलता तथा स्वच्छ निर्झरिणी का सा स्वाभाविक बहाव, सर्वथा उनकी अपनी वस्तु है। भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य होने पर भी अपनी रवानगी के कारण वह अत्यन्त हृदयग्राह्य हो गई है। वह बड़ी चलती हुई मालूम होती है और अलंकारों का चमत्कार जबरदस्ती ऊपर से लाद दिया हुआ नहीं मालूम पड़ता। उसमें एक विचित्र सी अनूठापन है जो पाठक के हृदय को बरबस अपनी ओर खींच लेता है। चित्रों का

व्यंजकता सराहनीय है। आदि से अंत तक यद्यपि एक ही विषय (Them.) का निर्वाह है किन्तु भावों की मौलिकता और कल्पना की स्वाभाविक सूक्ष्म उड़ान के कारण कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाई है। साथ ही आपकी रचनाओं में कलात्मक अन्विति (artistic unity) का जितना सुन्दर निर्वाह किया गया है, इतना हिन्दी के और किसी भी सामयिक कवि में नहीं पाया जाता। छोटी से छोटी से लेकर बड़ी से बड़ी कविताओं में भाव भाषा और अन्विति की पूर्णता पाई जाती है। शुद्ध प्रकृति वर्णन का अभाव अवश्य है परन्तु जिस प्रकार प्रकृति को अपनी व्यापक अनुभूति द्वारा आपने अपने सुख दुख, हर्षविषाद का साथी बना लिया है, उसका रूप और भी निखर आया है और वह अभाव खटकना तो दूर रहा, प्रकृति हमरी चिरसहचरी बन कर और अधिक निकट आगई है।

महादेवी जी के रहस्यवाद में भी उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद की एकमात्र कवि वे ही हैं, जिनकी रचनाओं में आदि से अन्त तक आध्यात्मिकता का सूत्र मिलता है। आपके रहस्यवाद का उद्गम उपनिषदों के तात्विक चिंतन तथा भगवान बुद्ध की फिलासफी में मिलता है, उसका रूप शुद्ध भारतीय है। कबीर का भी आप पर काफी प्रभाव पड़ा है और मीरा की माधुर्यभाव की उपासना की भी छाप है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आपने अपनी रहस्यवादी व्यञ्जनाओं को कभी दुरूह नहीं होने दिया, उन्हें अटपटे रूप में नहीं व्यक्त किया। आपके रहस्यवाद का स्वरूप साम्प्रदायिक नहीं, नितान्त स्वाभाविक है। एक एक भावना नारी जीवन की स्वाभावगत कोमलता और करुणा से ओतप्रोत है। इतने हृदयग्राही रूप में रहस्यवादी सिद्धान्तों को उपस्थित करने में कोई भी कवि नहीं समर्थ हो सका। उसका अलौकिक स्वरूप लौकिक प्रणय रूप को में बाँध कर ही व्यक्त किया गया है। अपने जीवन की साधारण अनुभूतियों को भी आध्यात्मिकता के रंग से अनुरंजित कर आपने एक गांभीर्यपूर्ण

गान मेरा उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख दुख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा।' अच्छी रचनाकार के विशेष तथा कृतियों के परिचय में इससे अधिक कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं।

श्रीमती महादेवी जी वर्मा का जन्म संवत् ११ ७ में इन्दौर में हुआ था। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर आप प्रयाग चली आई और वहीं पर सन् १९३८ में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। आप गम्भीर अध्ययन और मननशील रुचि की पक्षपाती हैं और आपके जीवन में साधना और संयम का सब से महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान काव्य संसार में आप प्रधान स्थान है और स्त्रीकवि तो आज तक हिन्दी संसार ने इतना महान उत्पन्न ही नहीं की। मीरा पहुँची हुई भक्तिन थीं उनकी वाणी में विदग्धता भी थी किन्तु भाव, भाषा, माधुर्य और अभिव्यञ्जना का इतना सुन्दर समन्वय उनमें मिलना दुर्लभ ही है। निस्सन्देह जब तक हिन्दी भाषा भाषी इस पृथ्वी पर रहेंगे महादेवी जी का साहित्य में स्थान सुरक्षित है।

ॐ शान्तिः

नवप्रभात प्रेस, इन्दौर